विप्लव

राधामोहन गोकुलजी

के

चुने हुये लेखों का संग्रह

— 191

प्रकाशक

बा० नारायणप्रसाद अरोड़ा बी० ए०

पटकापुर, कानपुर

प्रथमबार 1000 | १९३२ | मूल्य १।)

विषय सूची

नोट—यह सब लेख स्वतन्त्र विचार-मूलक हैं और मनुष्य-जाति मात्र को लक्ष्य में रख कर लिखे गये हैं। किसी जाति, धर्म या देश विशेष से इनका कोई सम्बन्ध नहीं है। —प्रकाशक

अत्रभवान्

राव श्रीवज्रङ्गबहादुरसिंह जू देव

भदरी-अधिपति

के

कृतहस्त हाथों

में

ससम्मान समर्पित

'राधे'

परिचय

श्रीमान राव कृष्णपालसिंह जूदेव लफटीनंट अवागढ़ लिखित

मैं पण्डित राधामोहन गोकुलजी को पिछले छ वर्षों से जानता हूँ। मुझे हिन्दू सभा और दूसरो समाज-सुधार सम्बन्धिनो सभाओं में इनकी वक्तृता सुनने और इनके कई लेखों के पढ़ने का अवसर हुआ है। हाल में विप्लवनाम की जो पुस्तक छप रही है इसके पहले आठ फार्म की फाइल कापी मैंने और कई मित्रों के साथ बैठकर पढ़वाई है। पण्डितजी के विचार बहुत ऊँचे और स्वतन्त्र हैं। इनके प्रत्येक लेख और हर लेख के प्रत्येक वाक्य में एक वह मर्मस्पर्शी वेदना पाई जाती है जो प्रत्येक सच्चे समाज सुधारक हृदय में होनी अनिवार्य्य है।

इनकी हार्दिक इच्छा यह है कि हिन्दू एक जाति हो, धर्म्म का बन्धन मनुष्य के ऊपर से हट जाय, स्त्रियाँ पुरुषों की भाँति स्वतन्त्र हों, छूत अछूत का भेद मिटे और देश में कोई अन्न वस्त्र के अभाव से कष्ट न पावे। आप ईश्वर और धर्म्म के अस्तित्व को मिटाने की चेष्टा करते रहते हैं। उपर्युक्त बातों को इन्होंने अपने जोवन का लक्ष्य बना लिया है। निश्चय ही इनके तर्क पुष्ट हैं, भावनाएं शुद्ध हैं। रहन सहन इतना सादा और पवित्र

है कि इनके सद्भावों में हम कोई लाञ्छन नहीं लगा सकते। आप इस सत्तर वर्ष की अवस्था में जिस लगन के साथ हिन्दू समाज के सुधार का काम सब प्रकार का कष्ट उठा कर करते हैं वह इन्हें इस बात का अधिकारी करता है कि हम इनके विचारों को सुने और पढ़ें।

मैं पण्डितजी के विचारों से किसी किसी अंश में सहमत नहीं हूँ फिर भी मेरा दृढ़ धारना है कि इनके लेख पढ़ने और सुनने योग्य हैं। इनके पढ़ने और सुनने से बहुत प्रकार की जानकारी पैदा होती है। मैं पण्डितजी को इस काम के लिए शुद्ध अन्तःकरण से बधाई देता हूँ।

आपका निर्धन रहना अधिक पसन्द है। इनके शब्दों में पेट भर अन्न और तन ढकने को कपड़ा मिलता रहे और अमीरी की बेहूदगियों से पाला न पड़े तो मनुष्य दीर्घ जीवी, नीरोग और बहुत सुखी रह सकता है। 'दौलत की तुझे चाट जो पड़ जायगी बाबा, रुसवा बहुत दुनिया में वह करवायेगी बाबा' नजीर का यह वाक्य बहुधा इनको पढ़ते सुना जाता है। धनवानों के पास दो दिन से अधिक इनका जी नहीं लगता। ग्रामों में जहाँ काम करने जाते हैं इनकी खास माँग 'यव चने की रोटी और छाछ' होती है' और इसीसे यह सुस्थ, चैतन्य और मुस्तैद बने रहते हैं।

—कृष्णपालसिंह
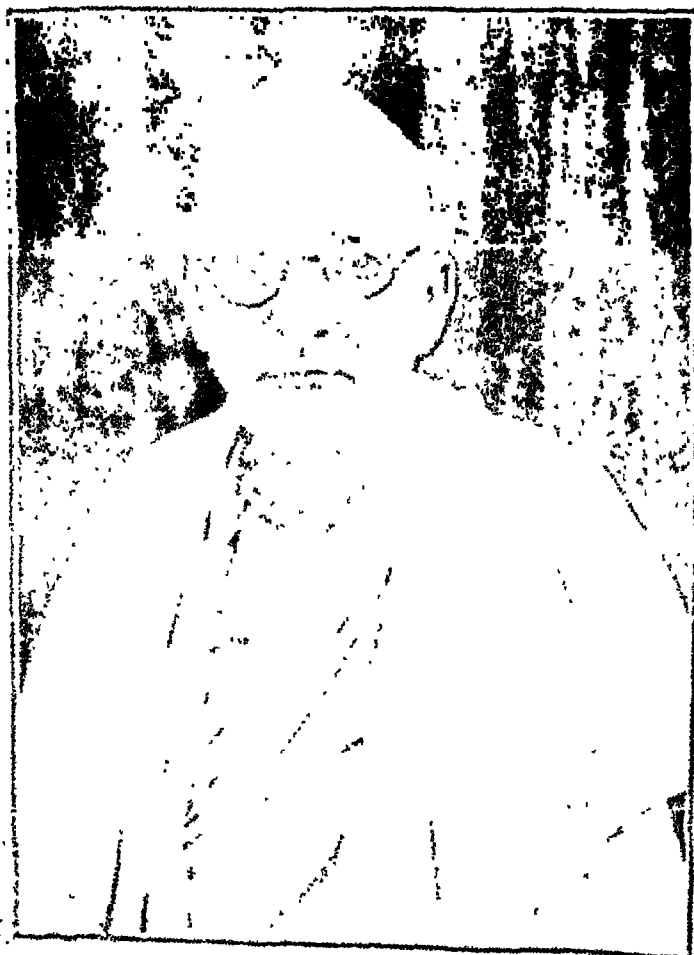
श्रीरवीन्द्रनाथ ठाकुर

लेखक का संक्षिप्त परिचय

राज्य जयपुर में एक छोटा सा ठिकाना खेतड़ी है। आज ढाई सौ वर्ष से कुछ अधिक समय होता है कि जब इस राज्य से, सम्भवतः निर्धनता के कारण; कुछ लोग जो अगरवाल सिंहानिया के नाम से प्रसिद्ध थे अन्तर्वेद में चले आये। कृपा रामजी की छठवीं पीढ़ी में लाला गोकुलचन्द के प्रथम पुत्र राधा मोहन का जन्म पौष कृष्ण १३ सम्वत १९२२ विक्रमी को भदरी राज्य के अन्तर्गत लाल गोपाल गञ्ज नाम के स्थान में हुआ। इनके चचेरे पितामह लाला परमेश्वरी दास राव साहब भदरी के यहाँ पोद्दार थे, सम्भवतः इसी कारण यह सम्मिलित घराना भदरी की ही भूमि में बसा। उन दिनों, जब भदरी की गद्दी पर वह महाराज थे जिन्हें लोग उदारता और भोलेपन के कारण 'बौरहे' महाराज कहा करते थे, गोपाल गञ्ज में नवाबी थी और उसके पास ही ४ मील पर 'विहार' में अंग्रेजी थी। विहार में भी ला० परमेश्वरी दास ने घर बनवाया था। विहार में तहसील थी जो अब उठकर कुण्डा चली गई है। विहार बौद्ध भिक्षुओं का किसी समय छोटा सा आवास था। इन्हें विहार में छठे वर्ष के आरम्भ में गुरूजी के यहाँ बैठाया गया। २–३ महीने में हिन्दी अक्षर और पहाड़े जानने पर इन्हें ग्राम्य स्कूल में हिन्दी पढ़ने बिठाया गया। तीन ही

मास के बाद इनको उर्दू विभाग में इसलिए दे दिया गया कि मौलवी फिदाहुसैन ने इनके पिता से आग्रह किया। आग्रह का कारण यह था कि एक दिन मौलवी साहब उर्दू की उच्च कक्षा को इमला लिखा रहे थे दूसरे कमरे में बैठे हुए राधा-मोहन ने उनकी एक शेर सुनकर याद करली और जब शाम को अपने पिता के पास चबूतरे पर बालक यह शेर गागाकर कूद रहा था मौलवी साहब ने आकर सुन लिया। शेर था 'एक दिन आखिर को मरना होयगा। बाग़े दुनिया से गुजरना होयगा।'

इसी बीच में बिहार से उठकर तहसील कुण्डा चली गई। गाँव उजड़ने लगा, चोरी बहुत होने लगी। बिलकुल लुट जाने पर इनके पिता शाहजादपूर (ज़िला इलाहाबाद) आ गये। यहाँ के स्कूल में और कुछ अर्से तक एक मकतब में इन्होंने फारसी और हिसाब वग़ैरह पढ़ा। इसके पश्चात् इन्हें इनके ताऊ के पास कानपूर भेजा गया। लाला फकीरचन्द बड़े संकीर्ण विचार के पुराने पौराणिक धर्म्म के विश्वासी थे। अंग्रेज़ी पढ़ाना पाप समझते थे, हिन्दी बहीखाता और फारसी पढ़ाते रहे। कुल १३ वर्ष की अवस्था में ही इस बालक का विवाह कर दिया गया। वास्तव में विवाहने ही इनके उन्नति के मार्ग को सदा के लिए अवरुद्ध कर दिया। इनके पिता बहुत सीधे थे यदि इनकी माता रात दिन ध्यान न देती रहतीं तो यह निरक्षर ही रह जाते।

विवाह के पश्चात् यह अपने चाचा के पास आगरे गये। आगरे के सेंटजांस कालिज़ियेट स्कूल में इन्होंने अपनी ही इच्छा से अंग्रेज़ी पढ़ी। सन् १८८४ में व्यापारिक दुर्घटना के कारण आगरा छोड़कर इलाहाबाद में नौकरी की खोज में आना पड़ा। हिसाब के मुहक्मे में २०) को एप्रेंटिसी मिली। लेकिन इस जगह पर ९ महीने काम करने पर एक अंग्रेज़ी कर्मचारी से झगड़ा हो गया, इन्होंने उसे दो रूल जमाकर घर का रास्ता लिया। घर पर पहुँच कर सार्टीफिकेट जला डाले और यावज्जीवन सरकारी नौकरी न करने की प्रतिज्ञा की। यह घटना जूलाई सन् १८८६ की है।

सन् १८८५ में स्वदेशी का बड़ा चर्चा था। इलाहाबाद में एक स्वदेशी तिजारत कम्पनी बनी इसमें २५) २५) रुपयों के हिस्से थे। इस गरीब बालक ने भी एक हिस्सा स्वदेशी के प्रेम से ले लिया और सदा के लिए देशी ही वस्त्र व्यवहार करना निश्चय किया।

कांगरेस का जन्म भी इसी समय हुआ। पहली बैठक जो बम्बई से आए हुए प्रस्तावों पर विचार करने के लिये जानसन गञ्ज की शिवराखन पाठशाला में हुई उसमें पण्डित सुन्दरलाल वकील अध्यक्ष थे। कुल १४-१५ आदमी एकत्र हुए। श्रीमान् पण्डित मदन मोहन मालवीय प्रधान वक्ता थे, यह भी इनकी वक्तृता सुनने के लिए उस सभा में मौजूद थे। इन पर खासा प्रभाव पड़ा।

बेकारी ने इन्हें प्रयाग में भी टिकने न दिया और यह रीवाँ रियासत में १-१॥ वर्ष रहे। यहाँ इन्हें कुछ हिन्दी उर्दू कविता का प्रेम जरूर हुआ और कोई लाभ नहीं पहुँचा। मेलेरिया प्रधान जगह होने के कारण यहाँ से भी बीमार होकर कानपूर वापस जाना पड़ा। कानपूर में पण्डित प्रताप नारायण से घनिष्टता हो गई। कुछ समय तक यह 'ब्राह्मण' के मैनेजर भी रहे, उसमें कुछ लेख भी देते थे। सार यह कि हिन्दी के साथ इनका अनन्य प्रेम मिश्रजी के ही सत्संग से हुआ। इन्ही दिनों में एक पुस्तक लिखी जिसकी हस्त लिपि चौधरी हुकमचन्द के साथ जाकर इन्होंने पण्डित पृथ्वीनाथ को सुनाई। पण्डितजी ने उसे फाड़कर फेंक देने का आदेश देकर कहा इसका समय ५० वर्ष बाद आवेगा। इन पर कुटुम्ब का खर्च बहुत था और जीविका कम थी। इनके पिता ने इन्हें अपने पास 'हसनपूर' (जिला गुड़गाँव) में बुला लिया। कानपूर से जाते समय आगरे में इनकी लड़की मर गई, हसनपूर से यह बड़ी कोसी मथुरा) आ गये यहाँ इनकी स्त्री का देहान्त हो गया।

इनके पिता माता ने इनका दूसरा विवाह करने का प्रबन्ध किया। इन्होंने प्रतिज्ञा की थी कि जब तक हिन्दुओं में विधवाओं का विवाह न होने लगे मैं अपना दूसरा विवाह न करूँगा अगर करूँगा तो विधवा के साथ। इसलिए इन्हें घर से भाग कर बम्बई, वहाँ से, बीकानेर आदि स्थानों में जाना पड़ा। लौटकर इन्होंने कई वर्ष तक वैश्य महासभा में स्व०

राय बहादुर लाला बैजनाथ जी की आज्ञानुसार समाज सुधार का प्रचार किया। इसी बीच में सन् १९०१ में इनके एक मात्र पुत्र का १६ वर्ष की आयु में देहान्त हो गया। तब यह माता पिता सबको लेकर आगरे जा रहे और अब तक इनके सब भाई वहीं रहते हैं, परन्तु कई वर्षों से यह सबसे पृथक् अपना जीवन अपने विचारों के अनुसार व्यतीत करते हैं। क्योंकि इनके विचार में मनुष्य मात्र एक जाति है, इनका परस्पर खान पान विवाह सम्बन्ध होना चाहिए, धर्म और ईश्वर झूठा ढकोसला है। इस प्रकार के विचार वाले का जाति बन्धन ग्रस्त कुटुम्ब में निर्वाह न हो सकना साधारण बात है।

१९०४ में आगरा आर्य समाज में एक मुसलमान की शुद्धि हुई, उसके हाथ की मिठाई इन्होंने भी खाई। इनकी माता ने कहा कि तू मिठाई खाने से इनकार कर दे पर इन्होंने यह बात न मानी। कुछ दिन बाद यह चर्चा स्वतः दब गई। इन्हें समाज सुधारक होने के कारण आर्य समाज से बड़ा प्रेम था, इन्होंने यथा साध्य आ० सामाज की सेवा करने में कभी कसर नहीं की। बहुत से लोग इन्हें अबतक कट्टर आर्य्य समाजी ही समझते हैं। इनके ईश्वर का बहिष्कार नामक लेख छपने के पश्चात कुछ लोगों को मालूम हुआ कि यह ईश्वर सम्बन्धी धर्म्म में कुछ धार्मिक प्रेम नहीं रखते। किन्तु हिन्दू संस्कृति और हिन्दू जाति की रक्षा के लिए आजभी यह प्राण विसर्जन करना अपना कर्तव्य समझते हैं।

१६०४ में जब वंग भंग के कारण देश में हल चल मच रही थी, यह, कुछ मित्रों की प्रेरणा से जो इनके पास आया जाया करते थे, कलकत्ते चले गये। यहाँ के इन के राजनीतिक कामों का उल्लेख हम दूसरों पर छोड़ते हैं। हाँ, इतना जरूर कह देना चाहिये कि यहाँ पर रहकर इन्हों ने समाज और साहित्य की भी खासी सेवा की।

कलकत्ता रहकर इन्हों ने समाज सुधार के नाते आर्य्य समाज का पक्ष लेकर सत्य सनातन धर्म्म नाम का पत्र निकाला। यह पत्र ३ वर्ष तक निकाला गया और नृशंस पुरोहित मण्डल पर विजयी होने के पश्चात् बन्द हो गया।

कलकत्ते में रहते हुए इन्हों ने बहुत से लेखों और कवितात्रों के अतरिक्त जो बराबर सम्बाद पत्रों में छपती रही हैं अनेक पुस्तकें लिखीं कुछ के नाम यह हैं :—

देश का धन नीति-दर्शन २ खंण्ड

छन्द-संग्रह नपोलियन देश भक्त लाजपति

मटजीनी गेरी वालडी गुरुगोविन्दसिंहजी साहब

जर्मनी का अभिमान इत्यादि अन्तिम पुस्तक ज़ब्त हो गई।

सन १६७१ के आरम्भ में यह महात्मा गाँधी के सत्याग्रह आन्दोलन में सम्मिलित होकर नागपूर के सत्याग्रह आश्रम के सम्पादक होकर काम करने लगे। किन्तु मुशकिल से ५ महीने काम किया होगा कि इन पर राज विद्रोह का मुकद्दमा चला और एक वर्ष का सपरिश्रम कारागार वास मिला।

नागपूर में इनके सम्पादकत्व में सेठ सतो दास ने प्रणवीर नामक पत्र निकाला था जिसमें जेल से निकलने के बाद भी बराबर यह लिखते रहे।

इस प्रथम राजनीतिक अभियोग में जो लम्बा वक्तव्य इन्होंने न्यायालय के सामने लिख कर दिया था उसका प्रथम वाक्य इनके मनोभाव को जानने के लिये पर्य्याप्त है।

यंग इण्डिया में इस अभियोग का उल्लेख महात्मा जी ने जोरदार शब्दों में किया है।

जेल से ११ महीने बाद निकल कर इन्होंने सी० पी० के कई स्थानों में और बंगाल में भ्रमण करके कलकत्ते से आगरे गये। यहाँ इनपर फिर राज-विद्रोह का मुकदमा चलाया गया। इन्होंने इस बार भी मुकदमें में भाग नहीं लिया केवल एक वक्तव्य कोर्ट के सामने दिया।

इन्हें कांग्रेस की नीति प्रारम्भ से आज तक पसन्द नहीं है फिर भी यह कांग्रेस विरोधी न कभी हुये न हैं। अवाञ्छनीय स्वराजिष्टों के अधिकार काल में यह हिन्दू सभा में कई साल काम करते रहे। साथ ही हिन्दुओं के संगठन का भी प्रयत्न करते रहे।

हाल में आपने एक छोटी सी पुस्तक 'कम्यूनिज़म क्या है' लिखी और कुछ लिख रहे थे कि फिर १९३० में इन्हें कानपूर से दो साल का कारावास हुआ। इस बार जेल में यह बहुत बीमार हो गये तब से बीमार ही चले आते हैं। फिर भी यह अपने ढंग

पर वश पडते कुछ न कुछ काम करते रहते हैं। इनका खास काम लेखनी का है। इनके लेखों का बहुत सा भाग प्रणवीर, नागपूर बाद में प्रणवीर बम्बई में, मतवाला-कलकत्ता में मिलेगा, लेकिन नीचे लिखे मासिक पत्रिकाओं में भी इनके लेख मिलेंगे।
मनोरमा, महारथी, नवयुग, सत्युग, माधुरी, सरस्वती, इत्यादि।

मैने इनके चुने हुये लेखों का संग्रह प्रकाशित करने का कई बार विचार किया परन्तु अनेक कारणों से न कर सका, अनेक प्रशंसनीय गद्य और पद्य लेख भी इनके अवतक नहीं मिल सके। अब इस काम को श्रीयुत बा० नारायणप्रसाद अरोड़ा ने हाथ में लिया है, इस लिये मैं यह सूक्ष्म जीविनी ही जो मेरे पास है उनको सौंप कर आशा करता हूँ कि यह लेख माला शीघ्र जनता के समक्ष आजायगी।

महादेवप्रसाद अग्रवाल, आगरा

पहली तरंग

(धार्मिक)

ईश्वर का बहिष्कार

(१)

कृति-वादी और केवल काल्पनिक भाव वादियों में बड़ा अन्तर है। एक तो गुलाब के फूल को प्रत्यक्ष देखता है—उसकी बनावट का ज्ञान और रूप-रंग आदि अनेक गुणों की जानकारी रखता है; यदि उससे गुलाब के सम्बन्ध में कोई प्रश्न करे, तो वह उसके अस्तित्व के प्रमाण में सीधी और वास्तविक दलीलों से काम लेगा और गुलाब के फूल का यथार्थ

ज्ञान भी करा देगा। लेकिन दूसरा गुलाबी रंग के वर्णन करने को तय्यार होता है और उस दशा में, जब कि उसने स्वयम् गुलाब को कभी नहीं देखा, तो सीधा कोई प्रमाण नहीं दे सकता। [illegible] और अव्यावहारिक प्रमाणों से जो वह काम लेगा तो निस्सन्देह कदम-कदम पर ठोकर खायेगा। यह तो उस दशा में होता है, कि गुलाब कोई वस्तु है और गुलाबी रंग, चाहे गुलाब से भिन्न द्रव्य हीन अवस्था में उसका देखना असम्भव हो, कोई ऐसी चीज़ है जिसे हम आँखों से देख सकते हैं।

ईश्वर एक ऐसा कल्पित पदार्थ है जिसे कभी किसी ने अपनी ज्ञानेन्द्रियों से प्रत्यक्ष नहीं किया इसलिए कि उसका सर्वथा अभाव है। ईश्वर कोई चीज़ है ही नहीं। जिस पदार्थ का अत्यन्त अभाव है, उसका अस्तित्व कभी हो ही नहीं सकता। संसार में जितनी वस्तुएँ हैं, वे चाहे कितनी भी सूक्ष्म क्यों न हों, सब का प्रादुर्भाव प्रकृति से होता है; और प्रकृति-जनित सारे पदार्थ किसी न किसी दशा में इन्द्रिय ग्राह्य होते हैं। उदाहरण के लिए जल को लीजिए। यह भाप की सूरत में आँखों को दिखाई देता है। यदि यह और विश्लिष्ट होकर सूक्ष्मतम वायविक (Gaseous) हो जाय अर्थात् गैस का रूप धारण कर ले, तो भी वह इन्द्रियों द्वारा जानने का विषय रहेगा। फिर देखिए बिजली बहुत ही सूक्ष्म रूप की एक वस्तु है, आँख, कान, नाक द्वारा इसे नहीं जान सकते।

लेकिन विजली की उत्पत्ति प्राकृत पदार्थों से होती है, और जब हम उसका व्यवहार किसी रूप में करते हैं तो द्रव्यों में उसे स्पष्ट देखते हैं कि काम कर रही है। . . . .

यह वात 'ईश्वर' नाम के पदार्थ में नहीं है, क्योंकि उसको प्रकृति का निर्माता, संचालक और नाशकर्ता माना जाता है। प्रकट है कि जो वस्तु नहीं है—केवलमात्र एक काल्पनिक भाव है—उससे वास्तविक पदार्थ का वनना, वनाना या प्रकट हो जाना प्रत्यक्ष ही एक निर्मूल, अशुद्ध एवं मानव विज्ञान-विरुद्ध एक कल्पना मात्र है। यदि हम इसे वल, शक्ति किम्वा गति मानें तो भी हम द्रव्य के सिवा अन्यत्र इसे कहीं भी नहीं देखते। इसी तरह गुलावी रंग भी कभी किसीने वस्तु से भिन्न, स्वतंत्र कहीं न देखा होगा, जैसा ऊपर कहा गया है। सारांश यह कि प्रकृति से अलग कभी कोई शक्ति या कोई और भाववाचक पदार्थ नहीं देखा गया। मन, ज्ञान, वुद्धि आदि सभी एक प्रकार के गुण या भाववाचक संज्ञाएँ हैं। इनका भी वोध हमें प्रकृति के ही द्वारा होता है। किसी खास दशा का निरीक्षण करके हम उसको एक नाम दे देते हैं, परन्तु वस्तुतः यह ऐसी कोई चीज़ नहीं है जिसे हम प्रकृति से भिन्न मान लें। [illegible]

ईश्वर के माननेवाले उसे सर्वशक्तिमान, न्यायकारी, दयालु, सर्वव्यापी इत्यादि सभी गुणों से विभूषित करते हैं। यह लोग यह नहीं सोचते कि शक्तिमान कहने से यह एक गुण 'शक्ति'

का दूसरी चीज़ में आरोप करते हैं, तो दूसरी चीज़ कोई वस्तु होनी चाहिए और ईश्वर कोई वस्तु नहीं है। यही तर्क न्याय, दया आदि की बाबत भी किया जा सकता है। जीव को एक प्रकार से हम शरीर में देखते हैं, लेकिन बिना शरीर के कोई जीव ऐसा पदार्थ देखा नहीं जाता। सम्भव है कि रसायन-शास्त्र के अनुसार जीव भी दो या अधिक चीज़ों के मेल से उत्पन्न कोई स्थिति विशेष हो। मनोविज्ञान-सिद्ध कई कुतूहल-जनक घटनाओं के देखने पर जान पड़ता है कि शंकर स्वामी को यह ख़याल हुआ था कि ईश्वर तो कोई चीज़ नहीं है। मगर जीव में कई विलक्षण शक्तियाँ हैं। इसलिए जीव और ईश्वर दोनों एक ही पदार्थ हैं। इस तरह पर शंकर स्वामी ने संसार को काल्पनिक ईश्वर के मानने से बहुत दूर तक हटाया—"अहं ब्रह्मास्मि" "तत्त्वमसि" "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" का पाठ पढ़ाया। वेदांत भी, जहाँ तक ईश्वर की मिथ्या कल्पना का सम्बन्ध है, एक ख़ासा नास्तिकवाद है, जो संसार को बहुत ठीक मालूम होता जा रहा है। इनके विचार के लोगों की वृद्धि होती जाती है।

ईसाइयों ने ख़ुदा की पवित्रात्मा को चिड़िया के रूप में पानी पर तैरा कर, उसका मरियम के साथ सहवास कराकर अथवा तूर-पहाड़ पर जलती आग की शकल में मूसा को दिखला कर यही सिद्ध किया है कि बिना वस्तु के किसी शक्ति का स्थिर रहना असम्भव है। क़ुरान ने ख़ुदा को एक

बड़े मकान में बिठाकर तख़्तो पर लिखने और फरिश्तों द्वारा सारा काम इंजाम देने का ख़याल इसीलिए पैदा किया कि बिना किसी व्यक्त पदार्थ के यह सारे गुण उसमें नहीं हो सकते, जिन्हें मुसलमान लोग ख़ुदा में मानते हैं। 'कुन' का कहना बिना जिह्वा के असम्भव है, और जिह्वा होने से ख़ुदा भी प्रकृतिजन्य एक पदार्थ बन जाता है।

सातवें आसमान पर मुहम्मद साहब का बुराक पर चढ़कर जाना, रिजवां का इन्हें बहिश्त दिखलाना, महात्मा मसीह का आसमान पर उठाया जाना तथा गरुड़ पुराण आदि की कही हुई स्वर्गों और नरकों की कल्पनाएँ, सभी इस बात की साक्षी हैं कि धर्म्म केवल कल्पनामात्र हैं। इनसे सिवा लोगों को मिथ्या झगड़ों में फँसा कर बेकार बनाने के, कोई भी लाभ-दायक काम नहीं हो सकता। इसीलिए मनुष्य जितनी जल्दी ईश्वर, ख़ुदा या गोड और धर्म्म, मजहब या रिलीजन को त्याग दें उतना ही अच्छा। मनुष्यजाति के कल्याण के लिए ही मैंने इन विचारों को प्रकट करने का साहस किया है। आशा है, विचारशील पुरुष इससे लाभ उठावेंगे।

लोग जो समय रोज़े, नमाज़, सन्ध्या-पूजा, और प्रार्थना में नष्ट करते हैं, उसे यदि समाज के किसी उपयोगी काम में लगावें, तो अपने भाइयों का और अपना बहुत कल्याण कर सकते हैं। यदि संसार से ईश्वर और धर्म्म के व्यर्थ गपोड़े मिट जायँ, तो लोगों में फैले हुए झगड़ों का अन्त हो जाय। जब

कोई मूर्ख से मूर्ख पिता भी अपना बश चलते अपने पुत्रों को नहीं लड़ने देता, तो यदि वास्तव में कोई .खुदा होता—और सर्वशक्तिमान् .खुदा होता—तो वह अपनी सन्तान को कदाचित् अपने नाम पर कुत्तों की तरह न लड़ाता। यदि .खुदा शक्ति और बुद्धि वाला होता तो भी वह एक ही धर्म्म सारे संसार के लिए बनाता—सारे संसार की एकही बोली और एकही संस्कृति होती—जिससे इन झगड़ों का बीज ही न पड़ता। जो .खुदा झगड़ों का बीज बोता हो, जो धर्म्म मनुष्यों के लिए वास्तविक हितकर न हो, वह यदि वास्तव में कुछ हो भी तो विषवत् त्याज्य ही है।

फ्रांस का विद्वान् 'वालटेयर' कहता है (If god did not exist, it would be necessary to invent him, for the people must have a religion.)

अर्थात्—यदि ईश्वर न भी हो तो भी हमें एक ईश्वर का आविष्कार करना ज़रूरी है, क्योंकि जनता को धर्म्म की जरूरत है। हमें इस पण्डित की बात पर हँसी आती है। पहले तो उपर्युक्त वाक्य के पढ़ने से प्रकट होता है कि वालटेयर को स्वयम् ईश्वर नामक किसी पदार्थ की सत्ता का पूर्ण विश्वास न था, इसीलिए वह मूर्ख जनता को धोके में डालने की नियत से एक ईश्वर की कल्पना करने के फेर में पड़ा। दूसरे उसने ईश्वर के लिए 'Him' कर्मवाचक, एकवचन, पुँल्लिङ्ग, प्रथम पुरुष का प्रयोग करके उसे मर्द करार दिया। इससे

प्रकट है कि वह इस अजीब जानवर को मनुष्य मानता है और मनुष्य मानने से उसकी सर्व शक्तिमत्ता, सर्वव्यापकता आदि की सारी बातें धूल में मिल जाती हैं। यही हाल हिन्दू मुसलमानों के ख़ुदा की भी है। तीसरे यह कि एक धर्म दरकार है इसलिए एक ख़ुदा की भी सृष्टि करना भी ज़रूरी है, यह भी बड़ी मज़ेदार बात है। जनता ने कभी ख़ुदा नहीं माँगा; 'वालटेयर' और उसी की तरह सोचनेवाले भद्र पुरुषों ने खाह मखाह एक ख़ुदा गढ़ कर जनता को अगणित वेहूदगियों का शिकार बना डाला।

ख़ुदा ही की कल्पना ने इंजील, कुरान, पुराण आदि रक्त-रञ्जित इतिहास का भाण्डागार बनाया और घृणित कथाओं और भावों से मनुष्य जाति का सर्वनाश किया है। मैं तो महात्मा 'मिकाइल वेकुनिन' को सराहता हूँ, जो खुले शब्दों में मनुष्य जाति के हित के लिए 'वालटेयर' को तुर्की बतुर्की जवाब देते हुए कहता है:—If god really existed, it would be necessary to abolish him.

अर्थात्—यदि ख़ुदा सचमुच होता, तो भी उसे धक्का देकर निकाल देना ज़रूरी होता। सच है धर्म और ईश्वर ऐसी ही बुरी कल्पना है। इनसे संसार का जब तक पीछा न छूटेगा, तब तक उसका कल्याण न होगा।

जब तक योरोप में ख़ुदा और धर्म सदृश रद्दी काल्पनिक बातों का ज़ोर रहा, रोमन कैथालिक और प्रोटिस्टेंट निरन्तर

सर फोड़ते रहे। कैथालिकों ने शक्ति प्राप्त होने पर प्राटिस्टेंटों को अग्नि के हवाले किया। और प्राटिस्टेंटों ने अधिकार पाने पर रोमन कैथालिकों के प्राणों की आहुति देकर अपना कलेजा ठण्डा किया। भारत में शैव-शाक्त आदि ने धर्म्म के नाम पर ख़ूब कुत्ते बिल्लियों की सी लड़ाई की। पर जिस दिन योरोप ने धर्म्म और ख़ुदा के ढकोसले को छोड़ा, उसी दिन से उसमें देश-प्रेम और ज्ञान-पिपासा जाग्रत हुई। आज योरोप प्रकृति की पूजा करके सर्वत्र अपने को पुजवा रहा है।

एशिया की बरबादी के कारण धर्म्म और खुदा ही हैं। आज बीसवीं सदी में भी इस मूर्खता के कारण एशिया की दशा अत्यन्त शोचनीय हो रही है। जिस जाति में जितनी धर्मान्धता है, वह उतनी ही अँधेरे गर्त में पड़ी हुई है। मुसलमानों में अधिक धर्म्मान्धता है, इसीसे उनका संसार में पतन होता जा रहा है। भारत में भी मुसलमान विद्या, बुद्धि और धन आदि सभी बातों में अत्यन्त नीचे हैं। टर्की ने इस भेद को समझा, इसी लिए उसने धर्म्म के हानिकर बन्धन को ढीला कर दिया। अब वह समय रहते इस रद्दी खयाल को अर्द्ध चन्द्र देकर सुखी होने का प्रयत्न करेगा, यह हमारा पूर्ण विश्वास है।

यदि ईश्वर और धर्म्म का ब्रह्मपाश कट जाय, यदि इस 'गौर्डियन नाट' के टुकड़े हो जायँ, तो संसार के धर्म्म ग्रन्थों के सारे निस्सार गपोड़ों का भी अन्त हो जाय। प्रत्यक्ष और

विज्ञान-सिद्ध बातों के विरुद्ध विश्वास, आचार और व्यवहार का पाप मनुष्यों में से जाता रहे—स्वर्ग के झूठे मन मोहने वाले दास्तानों और बच्चों की सी बे-सर-पैर की बातों से संसार का पीछा छूट जाय। ग़ालिब ने एक जगह बहिश्त का ख़ासा मज़ाक उड़ाया है। वह कहता है :—

'हमको मालूम है जन्नत की हकीकत ग़ालिब। दिल के ख़ुश रखने को ग़ालिब यह खयाल अच्छा है।' किसीने सच कहा है :—Doctrine kills the life, and the living spontaneity of action. सिद्धान्तवाद जीवन को नष्ट कर डालता है और कार्य्य के स्वाभाविक अस्तित्व को मटियामेट कर छोड़ता है। सार यह कि व्यक्ति हो या जाति कल्पनामात्र की तरंगों से ताड़ित होकर समुद्र में डांट लगी हुई खाली बोतल के समान इधर उधर ठोकरें खाती फिरती हैं, फल कुछ नहीं होता। हां, संसार के कितने ही मनुष्य विज्ञान की ओर ध्यान न देकर इंजील, कुरान, वेद, पुराण के पढ़ने में न जाने कितना समय ख़राब कर देते हैं। अच्छा हो जो इन लोगों में सुबुद्धि का संचार हो।

(२)

Ideal is but a flower, whose root lies in the material condition of existence.—Prowdhon.

सच है आदर्श कल्पना एक पुष्प है, जिसकी जड़ जीवन की प्राकृत स्थिति में रहती है। यह नहीं कि बिना सर पैर की

एक अनहोनी कल्पना हो। भला प्रत्यक्ष जगत् सत्य है, या केवलमात्र कल्पना में रहने वाला निराधार ईश्वर? कोई भी व्यक्ति, जिसका मस्तिष्क विकृत न हो प्रकृति को ही सत्य कहेगा। प्रकृति को असत्य और काल्पनिक ईश्वर को सत्य कहनेवाला निस्सन्देह पागल है। आखों का अविश्वास करके कानों का विश्वास करना बुद्धिमानों का काम नहीं है। मनुष्य जाति का सारा इतिहास—चाहे किसी भी विषय का क्यों न हो—द्रव्य से ही सम्बन्ध रखनेवाला मिलता है; सब का प्रकृति से ही सम्बन्ध है। गपोड़ कथाओं की बात दूसरी है। प्राणों के उद्गम और विकास का आधार तथा जीवत्व के सर्वश्रेष्ठ प्रकट प्रकाश का मूल प्रकृति है।

वस्तु के विकास में, प्राणियों की उन्नति में, हम देखते हैं कि पिछला रूप मिट जाता है और अभिनव विकसित उन्नत रूप उसका स्थानापन्न हो जाता है। मनुष्यता में (सज्ञान पशुपन में) केवल पशुता के बल का दिन-दिन ह्रास होता जाता है और ज्ञान का विकास, यह क्रिया नैसर्गिक है। इसी ज्ञान-वृद्धि के कारण प्रकृति के गुप्त रहस्य मनुष्य को मालूम होते जाते हैं। इस विकास-काल में, विज्ञान के प्रचण्ड मार्तण्ड के प्रकाश में सिवा विक्षिप्तों के और कौन ऐसा हो सकता है, जो अन्धकार के समय के कल्पित ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करेगा? किसी फ़ारसी कवि ने क्या ही ख़ूब कहा है :—

ख़याले हरदो आलमरा ज़ लौहे दिल चुनां शुस्तम ।
कि शुद वर तख़्तये हस्ती ज़ इक नुकता दोख़त पैदा ॥

जन्म के पूर्व और मृत्यु के बाद के संसार को दिल से ऐसा हटाया कि वर्तमान काल में प्राकृत जीवन के आधार पर एक प्रत्यक्ष विचार के कारण एक विन्दु से दो रेखाएँ उत्पन्न हो गईं। आदम-हौआ के जंगलीपन का जमाना गया; खुदा की शरारत और शैतान की मेहरबानी की अब ज़रूरत नहीं। यह बीसवीं सदी का विज्ञान-काल है।

अब हममें सत्यासत्य के विवेक की बुद्धि बढ़ गई है, और मिथ्या बातों को मार भगाने की इच्छा तथा शक्ति उत्पन्न हो गई है। आजकल का पण्डित कहता है। 'गुस्ताख़िये फरिश्ता नहीं मुआफ हमारे जनाव में।' आज हमें अवतारों, ख़ुदा और रसूलों की ज़रूरत नहीं रही और न हम शून्य से संसार की उत्पत्ति मानने की मूर्खता करने को तय्यार हैं। स्वार्थ वश मनुष्यों को गुलामी के गर्त में रखने वाले असुरों की सारी कैफ़ियत हमें मालूम हो चुकी है। हम सुरों के राजा ईश्वर की उस्तादियों और करामातों को ख़ूब जान चुके हैं। हम समझ चुके कि हमारा कल्याण अगर हो सकता है तो असुरों के द्वारा।

सुर बनने वाले धर्म्मयाजकों, राजवर्गियों और धनवानों का विचार मेरे दिल में आ गया, इसलिए आवेश में आकर मैंने विषय से कुछ असंगत बातें कह डालीं। लेकिन यह ज़रूर

है कि यदि सुर आजकल के उच्च, सर्वश्रेष्ठ बननेवाले हिन्दुओं की तरह होते हैं, और असुर गरीब, मेहनत की कमाई खाने वाले, छोटे कहलाने वाले किसान, मेहतर, धोबी, चमार, लोहार, बढ़ई हैं, तो मैं असुरों को अवश्य ही सुरों की अपेक्षा बड़प्पन दूंगा। ईश्वर यदि ऐसाही है जैसा बाइबिल और कुरान का ईश्वर, तो इन्हीं पुस्तकों के शैतान की उपासना को मैं लाख बार अच्छी समझूंगा।

हम देखते हैं, संसार का विकास क्रमशः नीचे से ऊपर को हुआ है। मानव जगत दिन पर दिन ज्ञान की वृद्धि करता जा रहा है। जो विज्ञान—जो कला-कौशल—१५ वीं शताब्दि तक न थे, आज क्रमशः उन्नत होकर बीसवीं शताब्दि में हमारी आँखों के सामने हाज़िर हैं। लेकिन ईश्वरवादी अपनी आँखें बन्द करके उलटा मार्ग लेते हैं। यह सर्वगुण-ज्ञान-गरिमा सम्पन्न एक ईश्वर को तो पहले ही मान लेते हैं और फिर उससे अज्ञान-तिमिराच्छादित जगत् की उत्पत्ति मानते हैं। यह कैसी विचित्र बात है। ईश्वर भी कोई व्यक्ति होगा या होगी, तो उसका उन गुणों से विभूषित होना जिनसे उन्हें विशिष्ट किया जाता है, सर्वथा असम्भव है। इस प्रत्यक्ष बात को जानने के लिए किसी चालबाज़ी की ज़रूरत नहीं। इसके लिए व्यक्त परमात्मा के माननेवालों को कुछ कहने की ज़रूरत नहीं।

कुछ लोग कहते हैं, ईश्वर एक सर्वव्यापक आत्मा है, जो आकाशवत् या सूर्य्य के प्रकाशवत् सर्वत्र व्याप्त है, वही

संसार का निर्माता, सञ्चालक, और प्रबन्धक है। किन्तु यह बात भी नहीं बनती; क्योंकि जिस ईश्वर को ज्ञान का भाण्डार शील का खज़ाना, पाण्डित्य का सागर, दयालुता और न्याय की खत्ती और सारे गुणों का आर्टिजन वैल (पताल तोड़ कूप) माना जाता है, उसकी कार्य्यवाही में तो यह सब बातें हम नहीं देखते। जिसे लोक-दिक्-काल के परे खोजने जाकर बड़े बड़े दार्शनिकों ने ज़मीन और आसमान के कुलावे मिलाये हैं, उसकी सत्ता को गौतम, कणाद, कपिल, वाचस्पति मिश्र, शंकर आदि भारतीय और प्लेटो, डिकार्टे, स्पायनोजा, काण्ट और हीगल आदि योरोपीय दर्शनकार भी न तो सिद्ध कर पाये, और न उसकी सन्तोष जनक व्याख्याही कर सके। अन्त में बड़े बड़े ऋषियों, अवतारों, नवियों और वलियों ने भी विश्वस्त खोज न की। जिस पहेली के बूझने में अपनी बलहीनता, बुद्धि-विहीनता को ही स्वीकार करके वेद शास्त्र केवल 'नेति-नेति' कह कर रह गए, उसे कोई कैसे मान सकता है। सच तो यह है कि असत् को सत् सिद्ध करना सम्भव नहीं। आखें बन्द कर के बेहूदा बातों पर विश्वास कर लेना दूसरी बात है। परन्तु प्राकृत 'नियमों के विरुद्ध कोई हस्ती नहीं हो सकती, न इसके विरुद्ध कोई शक्ति। इससे भिन्न कोई वैज्ञानिक केवल कल्पना ही कर सकता है। वनस्पति से प्राणी, प्राणी से मनुष्य, इसी प्रकार उत्तरोत्तर एक प्राकृतिक नियम के अनुसार संसार का विकास हुआ। तब यह अनहोना

ईश्वर कहाँ से कूद पड़ेगा, जो प्रकृति से भिन्न हो और आरम्भ में ही सब गुणों की खान भी। आखें बन्द करके किसी बात की कल्पना कर लेना दूसरी बात है। विश्वास में यही तो एक दोष है कि इसके आँखें नहीं होतीं। यह चिड़िया के दूध की कल्पना करता है और उसका अस्तित्व मान कर बैठ जाता है। इसी अन्ध-विश्वास से उत्पन्न हुआ ईश्वर समस्त संसार के धर्म्म ग्रन्थों, दर्शनों और चालबाजों की पुस्तकों का प्रधान चरित्र नायक है, जिससे संसार की सारी बुराइयाँ, बदमाशियाँ, अत्याचार तथा कमज़ोरियाँ पैदा हुईं और मनुष्य जाति नीच और निकम्मी हो गई।

जहाँ शारीरिक हानि पहुँचाने के लिए अनेक नशेबाज़ी और दुराचार के अड्डे होते हैं, वहाँ मनुष्य को मानसिक हानि पहुँचाने और निकम्मा बनाने के लिए धार्म्मिक अड्डे—गिरजे, मन्दिर और मस्जिदें-भी हैं। यह सब काम काबू याफ़्ता शासन और शासक मंडल के हित के लिए उनके दलालों अर्थात् पुरोहितों द्वारा, सरकार की छत्र छाया में बसनेवाले गरीबों को लूटनेवाले अमीरों की मदद से हुआ करते हैं। मूर्ख ग्रामीणों के दिमाग़ में जहाँ एक बार कोई बेवकूफ़ी घर कर गई, फिर मुशकिल से निकलती है। इन बेचारों में ज्ञान नहीं, विवेक नहीं, समझ नहीं, विद्या नहीं, खाने को अन्न और पहनने को वस्त्र तक इनके पास नहीं। जो चाहे इन्हें पण्डित, मौलवी, पादरी बन कर ठग सकता है, धोके में डाल सकता है, और अपनी

अर्थसिद्धि का साधन बना सकता है। पीढ़ियों से इन बेचारों का यही हाल है। सिखानेवाले धनिक, पुरोहित और राजकर्म्मचारियों में से कोई भी ईश्वर को नहीं मानता, पर हरेक ईश्वर के मानने का ढोंग रचता है। मैं पूछता हूँ कौन पण्डित, मौलवी, पादरी, राजा-रईस और सेठ साहूकार ऐसा है जो झूठ नहीं बोलता, फ़रेब नहीं करता और तमाम दुनियां की बदमाशियों से पाक है, इस हालत में कोई चतुर मनुष्य यह कैसे मान सकता है कि लोग ईश्वर की हस्ती के कायल हैं, परमात्मा की सत्ता को स्वीकार करते हैं। इसलिए ईश्वर कोई चीज़ नहीं है, सिवा इसके कि ग़रीबों को ठगने के लिए ठगी का एक जाल है। यह जाल जितनी जल्दी तोड़ दिया जाय उतना ही अच्छा। जूसेप मटज़ीनी और टामस पेन के सदृश मनुष्य-भक्तों ने भी इस कल्पना में पड़ कर ठोकरें खाईं, तो दूसरों की क्या गिनती।

लेकिन दुख तो इस बात का है कि इन देश और मनुष्य भक्तों ने भी कोई ऐसा तर्क और युक्ति-युक्त ऐसा प्रमाण न दिया कि ईश्वर का अस्तित्व निर्विवाद्-रूप से सिद्ध हो जाता। प्रोफ़ैसर फ़्लिंट ने अपनी 'एंटी थिइस्टिक थियरीज़' नाम की पुस्तक में नए पुराने सभी अनीश्वर वादियों के तर्कों का उत्तर देने का बहाना किया है, लेकिन ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध नहीं कर सके। मुझे दुख है कि न तो इस छोटे से लेख में 'पेन' और 'फ़्लिंट' के लेखों को उद्धृत करके उत्तर देने को स्थान और समय है और न इस समय मेरे पास पुस्तकें प्रस्तुत हैं।

जिन महानुभावों को देखना हो 'पेन' कृत 'एज आव रीज़न' और फिलंटकृत 'थिइज्म' और 'एंटी थिइस्टिकथियरीज़' को पढ़ कर देखलें। इनमें अगर ईश्वर के अस्तित्त्व का कोई प्रमाण मिले तो कृपया मुझे सूचना दें। इतना ख़याल रखें कि जिन बातों का मैं अपने अनेक लेखों में खण्डन कर चुका हूँ उन्हीं का पिष्ट-पेषण न हो। मैं हर दशा में अपने विपक्षियों के तर्कों का उत्तर देने को तय्यार हूँ, अलबत्ता गालियों के उत्तर देने में मैं असमर्थ हूँ। जो ईश्वर की सत्ता सिद्ध करने के बदले मेरे छिद्रान्वेषण करने में अपनी जीत समझते हैं, उनसे मैं पहले ही अपनी हार स्वीकार करता हूँ।

टामस पेन ने ज्योतिष शास्त्र का बड़ी निपुणता के साथ वर्णन करने के पश्चात् यह कह दिया कि यह सब ईश्वरीय चातुर्य्य का ही फल है, कोई तर्क नहीं है। जो भद्र पुरुष ईश्वरीय पुस्तकों का अपौरुषेय ग्रन्थ होना अस्वीकार करता हो और उनके खण्डन में तर्क और इतिहास से काम लेता हो वही एक कल्पनामात्र के आधार पर अपनी प्रतिज्ञा की सिद्धि मान ले, यह कितने बड़े आश्चर्य्य की बात है। इसी तरह महात्मा मटजीनी ने भी, अपने समय के एक अद्वितीय दार्शनिक होते हुए, ईश्वर को सिद्ध करने में जो तर्क सामने रक्खा है, वह बहुत हास्यास्पद है। आप कहते हैं:—सार्वभौम और आदिम विचार, जिनका ग्रहण करना सदा शाश्वत समझा जाता है, सारे संसार के भाव और विश्वास मिथ्या एवं भ्रममूलक

नहीं हो सकते। यह तर्क अनेक प्राच्य और पाश्चात्य विद्वानों ने मेरे सामने पेश किया, लेकिन जो इसीका नाम तर्क और लाजिक है, तो मैं कहूँगा कि संसार में तर्क शास्त्र का होना ही व्यर्थ है।

'बेकुनिन' (रूसी विद्वान प्राउढन का समकालीन) ने ठीक ही कहा है कि जो तर्क की यही दशा है कि जो बात भूत और वर्तमान के सब लोगों ने ठीक मान ली है और मानते हैं, उसे तुम भी मान लो और कह दो कि ख़ुदा है, और जो तुम नहीं मानते—'किम्, कस्मात् कारणात्' से काम लेते हो—ईश्वर के अस्तित्त्व में सन्देह करते हो—तो तुम्हारा तर्क गया भाड़ में, तुम प्रत्यक्ष राक्षस हो। तब तो हमें भी मूर्खों की तरह बुद्धि को विदाई देकर ठकुर सुहाती कहनी पड़ेगी। लेकिन कोइ जवाँ मर्द अपनी बुद्धि के विरुद्ध किसीके भय से भद्दी बात को ठीक नहीं मान सकता। हाँ, हम यह ज़रूर मान लेंगे कि जो बातें अनन्त काल से सबने मान रखी हैं उनमें अनेक तर्क और विज्ञान-विरुद्ध कल्पनाएँ हैं। ऐसी कल्पनाओं की जाँच-पड़ताल करना प्रत्येक नवयुवक का धर्म्म है। अन्धों के अनुगतों का कल्याण इस संसार में असम्भव है।

बहुत काल तक संसार पृथ्वी को चपटी मानता रहा, तो क्या हम उसे आज भी चपटी ही मान लेंगे? इसी तरह की हज़ारों बातें है, जिन्हें संसार अनादि काल से एक तरह पर मानता चला आता था, विज्ञान ने उन्हें झूठा सिद्ध कर दिया

और सच्चाई सामने रख दी तब हमें सत्य को मानना ही पड़ा।

लोग पहले पानी को एक तत्त्व समझते थे पर आज यह मानने को तय्यार नहीं, क्योंकि हम जान गए हैं कि आक्सीजन और हाइडरोजन नाम के दो वायव्य पदार्थों के योग से जल बना है। यदि हम आज समझ गए कि ख़ुदा नाम का कोई पदार्थ न तो है और न हो सकता है, तो हमारा काम है कि हम इस शब्द को अपने कोषों में से निकाल डालें, और धर्म्म की वेहूदगी से अपना पल्ला पाक करें। संसार में वेहूदगी, अन्याय, अत्याचार से ज्यादः पुरानी चीज़ें और कोई भी नहीं। पहले लोग स्त्रियों को उनके पिता से छीन कर ले जाते थे। इस रीति का प्रमाण आज भी व्याहों में पाया जाता है, लेकिन क्या आज भी कोई इस वात को पसन्द करेगा? फिर ईश्वर को फ़ुजूल पकड़ कर वैठना कहाँ की बुद्धिमत्ता है।

"वहुतेरे लोग कहते हैं प्रकृति और पुरुष भिन्न नहीं, एक ही हैं। जैसे द्रव्य में शक्ति, मेंहदी के पत्ते में सुर्ख़ी। इसलिए ईश्वर है और सर्वव्यापी है।" हजरात, विना गुलाव के गुलावी रँगत कहाँ? जो यह कहें कि गुलाव भी है और गुलावीपन भी, इसी तरह ईश्वर भी है और प्रकृति भी; प्रकृति में जो शक्ति है वही ईश्वर है तो मैं कहूँगा कि ईश्वर द्रव्यगत शक्ति का नाम है, वह कोई पृथक पूज्य पदार्थ नहीं, न वह न्यायशील और ज्ञान का इतना न्यारा गहरा गढ़ा है, जिसे हम

नाप न सकें। ईश्वर यदि केवल गति, शक्ति, फोर्स का एक पर्य्याय मात्र है, तो रहने दो। इसके लिए लम्बी-लम्बी नमाज़ों और बड़ी-बड़ी उपासनाओं की क्या ज़रूरत है। बड़े-बड़े पोथों के पाठ, मन्त्रों के जप, तिलक-माला और गद्य-कथाओं से क्या लाभ? विज्ञान पढ़ो, द्रव्यगत ईश्वर की उपासना से नए-नए आविष्कारों में लग जाओ। बड़े-बड़े आविष्कर्ताओं को ही अवतार, नवी और वली समझो, उन्हीं की खोज की पुस्तकों को धर्म्म पुस्तक मानो, संसार को अकारण धोका देने से क्या लाभ?

(३)

अब हम ज़रा अल्लाह मियां की पैदाइश की तरफ़ ध्यान देना चाहते हैं। क्यों कि अजन्मा, निर्विकार, आदि नामों से लोग उसे पुकारा करते हैं? जब मेरा मूल मंतव्य यही है कि ईश्वर को हमेशा के लिये जनता के हृदय-पटल से उड़ा दिया जाय, तो जैसे कुश की जड़ खोदकर मट्ठा डाला जाता है, उसी तरह ईश्वर की भी जड़ खोदकर उसमें केरोसिन तेल डालना पड़ेगा। इसलिये ईश्वर की जड़ तलाश करके उसका नाश करना मेरे लिये अत्यन्त आवश्यक काम हो गया। यदि हमने तर्क से लोगों के ऊपरी साधारण विचारों को पलट भी दिया, तो क्या फिर लोग दूसरे नाम और रूप से एक नई कल्पना खड़ी न कर लेंगे? जैसे मूर्त्ति-पूजन छोड़ने पर भी मुसलमान संग असवद को बोसा देने लगे, मुहम्मद साहब की क़ब्र की ज़ियारत

और काबे की मसजिद को सिजदा करने पर उतर पड़े, कुछ लोग ताजिये बनाने लगे, कितने हर किसी क़ब्र पर फूल-चद्दर चढ़ाना और फ़ातेहा पढ़ना सीख गये, यही हाल हिन्दुओं, ईसाइयों और जैनों का भी है। इसलिये जड़ से ही ख़ुदा परस्ती का कला कमा हो, तभी कुछ काम हो सकता है। अस्तु, हम ईश्वर की पैदाइश की खोज करके अपने ज्ञानवान्, विचारशील, धीर-वीर पाठकों को बतलाते हैं। हमारे परिश्रम से ईश्वर का नाम निशान ऐसा मिटे कि उसका कोई नाम लेने और पानी देनेवाला बाक़ी न रहे, तो समझिये कि महनत सफल हुई। अगर ज़रा भी चिन्ह बाकी रहा, वट-वृक्ष की तरह फिर ईश्वर नये अंकुर फोड़ने लगा, तो संसार के सामने एक नई ज़हमत खड़ी दिखलाई देगी। आओ भाई, अति-क्रांति से प्रेम करो—अपने बुद्धिदाता शैतान को सिंहासनासीन करने के लिये अपने शत्रु ख़ुदा को गद्दी से उतारो। इसी में हमारा-तुम्हारा, सबका कल्याण है। जब से ग्रेट ब्रिटेन ने ख़ुदा को हटाकर शैतान को सिंहासनारूढ़ किया, तभी से उसका सारे संसार में बोल-बाला है। अब बाकी यूरूप में खुदा इधर-उधर छिपकर दिन काट रहा है, मगर अभागे एशिया देश में उसकी डकैती बराबर जारी है। इसलिये एशिया के प्रधान ज्ञान-क्षेत्र भारत से ईश्वर को सबसे पहले देश निकाल देना हम भारतवासियों का प्रधान कर्तव्य है। अगर हम सब नौजवान कमर कसलें, तो म० गांधी सदृश

दस-पाँच आदमियों की मदद से वह कभी स्थिर नहीं रह सकता है। आओ, इसकी जड़ का पता लगावें।

धर्म के भ्रम और ईश्वर की मिथ्या कल्पना के कुछ लोग "वालटेअर" की तरह समर्थक हैं, यह प्रजा में भय उत्पन्न करने की ज़रूरत बतलाते हैं। यदि ज़रूरत के कारण ही ईश्वर और धर्म को माना जाय, तो वह चिड़ियों को डरानेवाले, खेत में खड़े काठ के पुतले के सिवा और कुछ नहीं रह जाता। जिस तरह प्राचीन एवं सार्वभौम कल्पना के आधार पर ईश्वर या धर्म का मानना विज्ञान और तर्क-शास्त्र के प्रतिकूल है, वैसा ही मूर्खों को डराने के लिये भी यह कल्पना बुरी और अमान्य है। जिनकी अन्तरात्माएँ दृढ़ हैं, जो सत्य के अनन्य भक्त हैं, जो मनुष्य के ज्ञान और उसके तर्क को प्रतिष्ठा देते हैं, वे इस प्रकार की कल्पना करने में सर्वथा असमर्थ रहे हैं, और रहेंगे।

मनुष्य जो धार्मिक विश्वास और ईश्वर की सत्ता को स्वीकार किये बैठा है, उसका कारण बेसमझी और अविचार इतना नहीं है, जितना दुख और हार्दिक असन्तोष। ग़रीब, फिर बे-पढ़े लोगों का जीवन इतना बुरा है, उनको खाने-पहिनने आदि की इतनी तकलीफ़ है कि जब वे कुड़कुड़ाते और जलते हैं, तो सारा दोष किसी ऐसी शक्ति के मत्थे मढ़ देते हैं, जो उनसे भिन्न है। यदि वे ईश्वर के बदले अपने कष्टों का दायित्व ज़बरदस्त, सतानेवाले और अधिकार-प्राप्त लोगों पर डालें,

तथा सामाजिक अतिक्रांति के लिये तैयार हों, तो ज्यादा अच्छा हो ; इनका दुख दूर हो जाय। ईश्वर को मान लेने से दुखों से छुटकारा मिलता नहीं दीखता। यदि मिलता तो पत्थर को रोटी मान लेने से भी काम चल जाता। सारांश यह कि ईश्वर का जन्म मूर्खता से हुआ, और भय, छल तथा सन्तोष ने इसकी यथा अवसर पुष्टि की।

सृष्टि की प्रारम्भिक अवस्था में मनुष्य का ज्ञान इतना समृद्धिशाली नहीं था, जैसा अब है। उनकी योग्यता कम थी; उनके मनोवेग और ज्ञान यथार्थ काम न दे सकते थे, जैसे बालक का हाल है। इसलिये उसने देवी, देव, नवी, रसूल, अवतार—जो भी किसीको सूझा, मान लिया। यह सब मनुष्य की ही कल्पना है, इसमें वास्तविकता कुछ नहीं है। इसका प्रमाण यह है कि मनुष्य ने जो कल्पना की, अपने ही रूप के अनुरूप की। राज दरबार, ज़बरदस्तों की तलवार, धनवानों का सुखमय आगार देखकर हमने भी ईश्वर के दूत, जेल के बदले नरक, भोग-विलास के स्थान में स्वर्ग आदि की कल्पना कर ली। पुराण, बाइबिल, कुरान की गाथाओं को देखकर इस कल्पना की निस्सारता सहज ही समझ में आ जाती है।

जिस तरह बच्चे अपनी मातामही, पितामही से झूठी लम्बी-चौड़ी कथाएँ सुनकर कल्पना किया करते हैं, मनुष्यों ने भी अपने स्वार्थी भाइयों से, जो कुछ अधिक चतुर थे, कथाएँ सुनीं, और धर्म के नाम से, भोलेपन के कारण, सत्य मान

बैठे। इस गप्प को लोग न मानते, तो पोप, खलीफ़ा, गोस्वामी पंडित-पंडे, पुजारी प्रभृति लोग जनता के धन से मोटे बनकर न बैठ सकते। एक बार कल्पित ईश्वर को गद्दी पर बिठाकर जैसे मंदिर में मूर्ति स्थापित करके लोग संसार को ठगने लगते हैं, उसी तरह विद्वानों और बात बनानेवाले लोगों ने यह कह कर ठगना आरम्भ किया कि 'वह बड़ा दयालु, न्यायकारी, सारे जगत् का नियन्ता, विनाशक, और बनानेवाला है', इत्यादि। इस तरह कल्पित ईश्वर की वेदी पर भोले-भाले लोगों का बलिदान प्रारंभ हो गया, और हो रहा है।

ईश्वर को स्वामी और मनुष्य को दास मानने से ही संसार में गुलाम और स्वामी की सृष्टि हुई। इस विश्वास को लोगों ने अवतार और नबी आदि बनकर फैलाया, और पुजे। जबतक ईश्वर सब का स्वामी है, मनुष्य दास है। जहाँ ईश्वर का स्वामित्व मिटा कि मनुष्य की दासता का भी अन्त हुआ समझो। इसलिए ईश्वर को मिटाना, मनुष्य की दासता को हटाना तथा मनुष्यों में समता और न्याय का प्रचार करना है। ईश्वर को मानना बुद्धि और न्याय को एकदम जलांजलि देना है—मनुष्य की प्राकृत स्वतंत्रता का निश्चय नष्ट करना है। इसलिए यदि हम मनुष्य जाति का कल्याण चाहते हैं, तो सबसे पहिले हमें धर्म और ईश्वर को गद्दी से उतारना चाहिए। आँखों से दिखलाई देनेवाले और बुद्धि-ग्राह्य जगत्

को मिथ्या मानकर एक निर्मूल पदार्थ को सर्व श्रेष्ठ मान बैठने से बड़ी और क्या नादानी हो सकती है ?

धर्म ने मनुष्य को कितना नीचे गिराया, कितना कुकर्मी बनाया, इसको हम स्वयं सोचकर देखें। ईश्वर का मानना सबसे पहिले बुद्धि को सलाम करना है। जैसे शराबी पहला प्याला पीने के समय बुद्धि की विदाई का सलाम करते हैं। वैसे ही खुदा के मानने वाले भी बुद्धि से विदा हो लेते हैं। ईश्वर की कल्पना मनुष्य को निर्बल, निकम्मा, परमुखापेक्षी और गुलाम बना डालती है। धर्म ही हत्या की जड़ है। कितने ही पशु धर्म के नाम पर रक्त के प्यासे ईश्वर के लिए संसार में काटे जाते हैं, इसका पता लगाकर पाठक स्वयं देखलें।

कितने झगड़े ईश्वर और धर्म के नाम पर होते हैं। आज हिन्दू मुसलमानों के बीच, भारत में जो परिस्थिति है, इसकी ज़िम्मेदारी धर्म ही पर है। आज कुरान को हटा दिया जाय, तो आज ही भारत में सुख शांति आ सकती है। हिन्दुओं में भी वही दोष है, जो मुसलमानों में; किन्तु बहुत कम दर्जे में। दोनों में राई और पर्वत का अन्तर है। फिर भी दोनों ही गलती पर हैं। जितने पादरी, मौलवी, पंडित पुजारी और पंडे धर्म का दम भरते हैं, ऊपर से बड़े भद्र होते हैं; पर इनके दिल बहुत काले होते हैं। इनकी आकांक्षा रहती है कि ईश्वर और धर्म के नाम पर हम ठगें, लोग ठगे जायँ, और हमारे पीछे पागल की तरह फिरें।

आज हमारे देश के बड़े बड़े विद्वान यदि ब्रृटिश गवर्नमेंट को निकाल देने के पहले ईश्वर को निकाल देते, धर्म की फाँसी अपने गले से निकाल फेंकते, तो उनमें कभी का इतना बल आ जाता कि अपने देश का शासन आप करते। ज्यों-ज्यों दुनियाँ में बुद्धि का विकास होता जाता है, त्यों-त्यों ईश्वर की थोथी कल्पना मिटती जाती है। समय आवेगा कि धर्म की बेहूदगी से संसार छुटकारा पाकर सुखी होगा, और आपस की कलह मिट जायगी। खुदा है क्या वस्तु? कोई वस्तु? कोई व्यक्ति? कोई मनोगतभाव? कुछ नहीं—एक मात्र निर्मूल कल्पना, एक कुविचार जनित शब्द। मनुष्य से अधिक सुन्दर, चतुर, शक्ति-शाली, ज्ञानवान्, भद्र, परोपकारी, न्याय और दया को समझनेवाला, न तो कुछ है, न हो सकता है। लेकिन जब कुछ मनुष्य दूसरों को सतानेवाले देखे जाते हैं, तो लोग एक सर्व श्रेष्ठ की कल्पना करते हैं। यह नहीं समझते कि मनुष्यों में ही भले, और बुरे दोनों की पराकाष्ठा के नमूने हैं। इसीको देखकर ईश्वर में क्रोध, बदला, नाशकरी-शक्ति का आरोप किया गया है। मनुष्य का ही मनन करो, प्रकृति का पाठ पढ़ो इसी में हमारा कल्याण है। एक अत्याचारी, एक मूर्ख शासक, ख़ुद-मुख़्तार और रद्दी ईश्वर की कल्पना करना मानों स्वतन्त्रता न्याय और मानव धर्म्म को तिरस्कार करके दूर फेंक देना है। यदि आप चाहें कि ईश्वर आपका भला करे,

तो उसका नाम तक हम भुलादें। फिर संसार मंगलमय हो जायगा।

मनुष्य के सरल, साधारण नैसर्गिक ज्ञान के हथौड़े से ही ईश्वर की कल्पना को टुकड़े टुकड़े कर सकते हैं लेकिन देखा जाता है कि आध्यात्मिकता के नए-नए जाल मनुष्य जाति के गले की फाँसी को सुदृढ़ करने के लिए गढ़े जा रहे हैं। साधारण जन समूह का कल्याण और हमारी मानसिक भलाई इसी में है कि हम ईश्वर की ऐतिहासिक उत्पत्ति को मनोयोग के साथ समझें; वे कौन से लगातार ऐसे कारण हुए, जिनसे मनुष्य ने अपने मन में ईश्वर की कल्पना की, इसका विचार करें। यदि हम लोग पढ़े-लिखे, विचारशील व्यक्ति अच्छी तरह ध्यान देंगे तो निस्सन्देह हम थोड़ा-बहुत उस सार्व भौम अन्तरात्मा की पुकार से जिसका भेद हमने अच्छी तरह प्रकट नहीं किया दब ही जायँगे। कड़े से कड़े दिल के आदमी में एक स्वाभाविक निर्बलता देखी जाती है। वह यह कि सामाजिक बन्धन के दबाव में मनुष्य आ ही जाता है और किसी न किसी प्रकार उसे धार्म्मिक बेहूदगी के गढ़े में गिरना पड़ता है। टामस पेन सदृश विद्वान् ने भी ऐसी ही ठोकर खाई है। धर्म्म की पकड़ साधारण जन समूह या समुदाय में इतनी बलवती क्यों देखी जाती है? इसका यह अर्थ नहीं है कि यह सब पागल हैं। लेकिन इस अबूझ पहेली में फँसने का कारण उनकी मानसिक चिन्ता और हार्दिक असन्तोष है। इस असं-

न्तोष का निराकरण ईश्वर की कल्पना से नहीं हो सका तो अब सामाजिक अतिक्रान्ति ही इसका अन्त करेगी। इस लिए अतिक्रान्ति की बड़ी ही आवश्यकता है।

जर्मनी के एक राजसत्तापोषक (Imperialist) ने एक बार कहा था—We donot only need the soldiers legs but also their brains and their hearts.

अर्थात्—हमें सिपाहियों के केवल हाथ-पैरों की ही ज़रूरत नहीं है, हमें उनके दिल और दिमाग़ को भी ग़ुलाम बना लेने की ज़रूरत है। मतलब यह कि ग़रीबों के दिल और दिमाग़—उनकी मानसिक वृत्ति और हृदय, ऐसे बनाए जायँ कि वह ख़ुशी से पशुओं की तरह धनिकों, अधिकार प्राप्तों की ग़ुलामी यावज्जीवन करते रहें। यही तो मनु ने भी किया, जो उसने शूद्रों के कर्तव्य में यह लिखा कि "एक मेव तु शूद्राणाँ प्रभु कर्म समादिशत्; एतेषाँ त्रय वर्णानां शुश्रूषामनुसूयया।" यह तो ग़रीबों के लूटने का एक साधन है कि उन्हें धर्म्म-याजकों द्वारा ईश्वर या धर्म्म का भय दिलाया जाता रहे। क्या कोई पण्डित, मौलवी, पादरी या दूसरा धर्म्म-याजक या राजा-रईस और धनिक ईश्वर को मानता है? उससे डरता है? कभी नहीं। क्योंकि वह जानते हैं कि ईश्वर मात्र हमारे स्वार्थ सिद्धि का एक ख़ासा बहाना है। स्कूल, देवालय, राजसत्ता और छापेख़ाने सभी कुछ ग़रीबों को अन्धकार में डालने के लिए धनवान् और ज़बरदस्त लोगों ने मिलकर बनाये हैं। स्कूल

भी शुद्ध बुद्धि से जनता के हित के लिए नहीं बनते। देवालय और ईश्वर तो प्रत्यक्ष ठगी के जाल ही हैं। एक स्थान पर पण्डित शिरोमणि बुहारिन ने स्पष्ट बतलाया है कि ग़रीबों के छलने के लिए धर्म्म (church) के द्वारा क्या-क्या शरारतें की जाती हैं। हम यहाँ विषयान्तर होने के भय से इस पण्डित की विवेचना को स्थान नहीं दे सकते, अन्य पुस्तक में हम शीघ्र इस प्रकार के विषयों पर अलग विचार करने की इच्छा रखते हैं, यदि समय और शरीर साथ दें। ईश्वर का भ्रम मनुष्यों में कैसे उत्पन्न किया गया, इसी पर अब मैं थोड़ा सा विचार और करके इस लेख को समाप्त करना चाहता हूँ।

वेद, पुरान, कुरान, इञ्जील आदि सभी धर्म्म पुस्तकों के देखने से प्रकट है कि सारी गाथाएँ वैसी ही कहानियाँ हैं, जैसी कुछ बूढी दादी, नानी अपने बच्चों को सुनाया करती हैं। गीदड़, चिड़िया और राक्षस की जो कहानियाँ मैंने अपनी दादी से सुनी थीं मुझे आज तक याद हैं। धर्म्म-ग्रन्थों की बातें कहीं-कहीं इससे बेहूदगी में बहुत आगे बढ़ जाती हैं। इसका कारण मानव बुद्धि का अपूर्ण विकास, बालकाल का मूढ़ विश्वास ही हो सकता है, न कि और कुछ। ईश्वर, देवता, नबी, वली वग़ैरह-वग़ैरह की बुद्धि-विरुद्ध कल्पनाएं मूर्खों के ही सर में पैदा हो सकती हैं, और उन्हीं के भाई-बन्द उनको सुनकर उन पर विश्वास कर सकते हैं। बिना देखे-सुने, बिना जाने-पहचाने अनहोने लापता ईश्वर या ख़ुदा के नाम पर

अपने देश को जाति को, व्यक्तित्व को और धन-सम्पत्ति को नष्ट कर डालना एक ऐसी बड़ी मूर्खता है, जिसकी उपमा नहीं मिल सकती। हमारे देश में करोड़ों हरामख़ोर इसी बेहूदा कल्पना की बदौलत मजे उड़ाते हैं, और रात-दिन श्रम करने वालों को एक टुकड़ा रोटी भी यथा समय नहीं मिलती।

वह बुद्धि-विहीन मस्तक कैसा विचित्र होगा जिसमें 'कुछ नहीं' को सत्य, न्याय सौन्दर्य्य, बल, धन, जन से सम्पन्न और मनुष्य को नीच, हेय, पतित, निर्बल, निकम्मा, पापी माना तथा मनवाया होगा। आओ आज हम इस बेहूदगी का पर्दा फाड़कर संसार को सुखी बनाने के लिए, उसके गले से ग़ुलामी का तौक उतारने के लिए, घोषणा करें कि 'ईश्वर नाम का कोई पदार्थ नहीं है—मनुष्य-बुद्धि की विडम्बना मात्र है।' जबतक यह कल्पित स्वामी ईश्वर हमारे सर पर रहेगा, हमारी ग़ुलामी का अन्त न होगा। ईश्वर गया और ग़ुलामी भी गई। ईश्वर ही सब पापों की जड़ है; सब फसादों का आदि कारण है; इस नाम के भूल जाने में ही हमारा कल्याण है। प्रह्लाद के पिता के चातुर्य्य और प्रह्लाद की अदूरदर्शिता का पता, उन विचार शीलों को लगेगा, जो बात की तह में गहरे घुस कर देखेंगे। ख़ुदा यदि हमारे कल्याण का हेतु हो सकता है तो सिर्फ़ इसी तरह कि वह हमारे बीच से सदा के लिए अपना सा मुँह लेकर चला जाय। सच तो यह है कि संसार ख़ुदा से तंग आ चुका है।

हमें दुःख है कि आज भी हमारे देश के बड़े-बड़े विद्वान यथा महात्मा गाँधी, साधु टी० एल० वासवानी, डाक्टर संजीवी, दार्शनिक-अग्रगण्य श्रीयुक्त भगवानदासजी इत्यादि इत्यादि उसी भूल को पद-पद पर दृढ़ करने में लगे हुए हैं, जिसे, हमें चाहिये था, संसार के सामने प्रकट करके सदा सर्वदा के लिए उठा देते, मिटा देते, अशुद्ध अक्षर की भाँति हरताल से छिपा देते।

हमारे कुछ दोस्तों ने प्रकृति की आन्तरिक अवच्छिन्न शक्ति को (Inherent force in matter) ही ईश्वर मानकर प्रार्थना की है कि ईश्वर को इस काम से अलग पड़ा रहने दीजिए लेकिन मैं कहता हूँ कि इस प्राकृत-शक्ति के लिए प्रकृति काफी है। अधिक विचार के लिए आप चाहें तो दूसरा नाम रख सकते हैं, लेकिन मैं अपने वश पड़ते 'राजा और ईश्वर' शब्दों से संसार के किसी भी कोष को कलंकित नहीं देखना चाहता। ईश्वर ही की कल्पना राजा की कल्पना, गुरुओं और महन्तों की कल्पना का प्रधान कारण है। इसीलिए संसार की बुराइयों पर कुठाराघात करने के निमित्त ईश्वर की जड़ को काटना सब से पहले ज़रूरी जान पड़ता है। आशा है हमारे नवयुवक इस बात पर गहरी, गंभीर और धीरता, वीरतापूर्ण दृष्टि डालकर शीघ्र ईश्वर को निकालने का प्रयत्न करेंगे।

(४)

संसार में जितने धर्म्म ग्रन्थ हैं, सब में श्रेष्ठ और सुपाठ्य प्रकृति है। इस ग्रन्थ के किसी-किसी सूत्र के व्याख्याकार भी हुए हैं। उन्हें भी हम चाहें तो सहायता लेने के विचार से पढ़ें। कितने ही गणितज्ञ, भूगोल-खगोल वेत्ता, नई-नई खोज और आविष्कारों के कर्ता पण्डित हुए हैं। इन्हीं के निश्चित सार्वभौम निर्दोष प्राकृतिक नियमों के मानने से हमारी स्वाधीनता, स्वतन्त्रता तथा मनुष्यता स्थिर रह सकती है। इसके विरुद्ध जितने नियम हैं, वे सब तिरस्कार के साथ ठुकरा देने योग्य हैं। इन प्राकृत नियमों को जहाँ हमने एक बार समझ कर मान लिया, फिर हमारा मार्ग सीधा सरल और निष्कण्टक हो जायगा। संसार में साधारण जनता से लेकर बड़े-बड़े पण्डित तक सभी इस के विरुद्ध मुँह खोलने में असमर्थ हैं। कौनसा ऐसा धर्म्म-याजक, जगद्गुरु, महात्मा, पैगम्बर, अवतार, दर्शनकार इस संसार में है, जो गणित-शास्त्र-सिद्ध सिद्धान्तों का विरोध करने का साहस करेगा। पागलखाने के बाहर मैं समझता हूँ, कोई बड़े से बड़ा धर्मान्ध भी ऐसा न मिलेगा, जो एक एक दो होते हैं, इस बात से इनकार करे। आग जलाती है, पानी जलती हुई आग को बुझा देता है, इसे कौन न मानेगा, जब तक कि कोई प्राकृतिक नियम इसके अन्दर दूसरी क्रिया न करता हो। साधारण जनता भी अपनी प्राकृतिक सहज बुद्धि से काम लेती है। वह नित्य प्रति निसर्ग के नियमों

को देखती है और एक सीमा तक जानती तथा मानती है। यदि उसे बहके हुए पथ से हटा कर नैसर्गिक नियमों पर ही दृढ़ रखने का थोड़ा सा प्रयत्न किया जाय, तो निस्सन्देह सत्य प्रकृति की उपासना अथवा असत्य ईश्वर के त्याग से बड़ा कल्याण हो। हमें उचित है कि हम विज्ञान की शरण लें और धर्म्म ग्रन्थों को एक साथ नदी में बहाकर सदा के लिए निश्चिन्त हो बैठें। महात्मा कार्ल मार्क्स ने ठीक ही कहा कि "Religion is opium of the people" अर्थात् धर्म्म मनुष्य जाति की अफीम है। एक बार जिसे अफीम का चस्का लग गया, वह फिर इस घातक विष के फन्दे से निकल नहीं सकता। यदि कोई हज़ार में एक आध निकल जाय तो वह बड़ा ही चतुर, दूरदर्शी, बहादुर या साधारण परिभाषा में अत्यन्त भाग्यशाली है। किसी-किसी धर्म्मरूपी अहिफेन का नशा तो इतना गहरा और बेहोश करनेवाला होता है कि लोग अपनी जन्म-भूमि, अपने बाप-दादों के रजवीर्य्य और अपने अस्तित्त्व को भी भूल जाते हैं। उदाहरण के लिए हम मुसलमान धर्म्म को ही लेते हैं। भारत के ग़ुलाम, भूक-मरते, अर्द्ध जाति वाले मुसलमान अर्थात् नवमुसलिम अपनी पीनक में आकर कहने लगते हैं कि इस्लाम धरती की किसी सीमा से आबद्ध नहीं है। 'मुस्लिम हैं, हम वतन हैं सारा जहाँ हमारा।'

हम इन मुसलमानों से पूछते हैं कि आप हिजरत कर गए थे, तब आपको मुसलिम दुनिया ने यथेष्ट प्यार क्यों न किया,

रहने को स्थान क्यों न दिया? आपका वतन सारा जहान था तो आप क्यों मुँह की खाकर लौट आए? १९२० ईस्वी में सारे हिन्दुस्तान के मुसलमान क्यों न अपने धर्म्म शास्त्र के अनुसार हिजरत कर गए? बात यह है कि फकीर टुकड़े को तरसता है, जिसके रहने के लिए एक कोठरी भी नहीं; वही मूर्ख सारी पृथ्वी को अपनी जागीर बताता है—

"आवारा वतन कहते हैं सारा जहाँ हमारा।"

हमारे मुसलमान धर्म्मावलम्बीय भाइयों से इस पीज़क ने माता के रज और पिता के वीर्य्य से भी इनकार करा दिया। काश्मीरी ब्राह्मण, खत्री और अन्यान्य हिन्दू अपने बाप दादों को भूल कर खुरासानी खच्चर की तरह अपने बाप दादों के बदले अरब के रज-वीर्य्य का दावीदार बनने लगता है। वह इतना पागल हो जाता है, उसे यह भी तमीज नहीं रहती कि धर्म्म दूसरी चीज़ है और नस्ल दूसरी; धर्म्म का ख़याली पुलाव और बात है और अपनी प्यारी मातृ-भूमि दूसरी। धर्म्म के नशे में चूर नशेबाज जिधर देखो यही पुकारता फिरता है कि :—

बररूय शश जेहत दरे आइनः बाज है।
यां इम्तियाज नाकिसो कामिल नहीं रहा॥

इसी बदबख़्त मज़हब के नशे के पागल अपनी उस धरती की महत्ता और पवित्रता को भूल जाते हैं, जिसमें उनकी अगणित पीढ़ियों की मिट्टी मिली हुई है और चोरी, उठाई

गीरों, डकैतों की धरती को पवित्र मान बैठते हैं। इस तरह जिस धर्म्म के कारण मनुष्य मनुष्यता से गिर जाता है, उस धर्म्म, मजहब या रिलीजन से कब किसी मनुष्य का कल्याण सम्भव है?

इस धर्म्म के नशे में डाल कर ही पूँजीपति शासन श्रमिकों को लूटता-खसोटता और पशुतुल्य दास बनाये रखता है। समस्त देशों के धर्म्म-याजक धर्म्म रूपी अफीम के प्रचार के ठेकेदार हैं। इन्हें इस नशे से ग़रीबों को उन्मत्त रखने के लिए धन मिलता है। धर्म्म की व्यवस्था हमेशा धन से ख़रीदी जाती रही है और अब भी ख़रीदी जाती है। डायर और ओ-डायर की क्रूरताओं का पादरियों ने और मालाबार के मोपलाओं के राक्षसी कृत्यों का मौलानाओं ने समर्थन किया। यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो सब पापों की जड़ धर्म्म है। इसलिए धर्म्म, मज़हब अर्थात् ईश्वर या अल्लाह को जितनी जल्दी भूमण्डल से विदा किया जाय उतना ही अच्छा।

याद रहे संसार में सामाजिक समुन्नति कभी किसी अप्राकृत शक्ति या शक्तियों से नहीं हुई, न हो सकती है और न कभी होगी। इसके सिवा विद्वानों ने यह सिद्ध कर दिया है कि ईश्वर, धर्म्म और अनैसर्गिक शक्तियों का भाव मानव जाति में उसकी एक अनुन्नत दशा में पैदा होता है। यह इतिहास-सिद्ध बात है, फिर विकास होने पर एक ऐसी उन्नत दशा आ

जाती है कि यह भाव परिवर्तित होते-होते विनष्ट हो जाता है। जैसे लड़कियाँ जवान होने पर गुड़ियों का खेल छोड़ देती हैं और फिर पसन्द नहीं करतीं; छोटे-छोटे बच्चे जवान होने पर अपने बचपन के बहुतेरे विचारों और बेहूदा खेलों को छोड़ देते हैं, वैसे ही मनुष्य जाति भी एक विशेष विकसित अवस्था के प्राप्त होने पर धर्म्म और ईश्वर के निर्मूल झगड़ों को त्याग देती है। मनुष्य और प्रकृति के संघर्ष में किसी भी तीसरी वाह्य महाशक्ति का न अस्तित्व है, न 'कुछ नहीं' का कोई हस्तक्षेप हो सकता है। थोड़े से स्वार्थी लोग जनता को लूट कर अपना पेट और जेब भरने के लिये उसे धर्म्म के अँधेरे में डाल रखने का प्रयत्न किया करते हैं। इन असद्विचार वालों और लुटेरों से बचे रहना चतुर मनुष्यों का काम है।

हम कह चुके हैं कि केवल मूर्ख ही अनहोनी घटनाओं के घटने का विश्वास कर सकते हैं। जितने धर्म्म हैं सब गप्प कथाओं के आधार पर रचे गये हैं। यदि मिथ्यावादियों की होड़ा-होड़ी का आनन्द देखना हो, तो हमें चाहिए कि हम धर्म्म पुस्तकों को पढ़ें और धर्म्म नामक छल से बचें।

सांसारिक कार्य्य करने के समय हम देखते हैं कि सभी नास्तिक होते हैं। क्या कोई मनुष्य रातदिन जो काम करता है उसमें प्रतिक्षण धर्म्म का विचार रखता है? रख ही नहीं सकता। यदि रखे तो संसार का कोई काम न चले। यही

पड़ा भारी प्रमाण धर्म्म की अव्यवहारिकता और व्यर्थता को सिद्ध करने के लिए काफ़ी है।

ला प्लेस नामक एक फ्रांसीसी विद्वान ने विश्वक्रम-ज्ञान (System of the universe) को प्रकट करने के लिए एक पुस्तक लिखी। यह पुस्तक प्रथम 'नेपोलियन बोनापार्ट' ने पढ़ी और लेखक से कहा 'आपकी इस पुस्तक में कहीं भी ईश्वर का नाम नहीं मिला'। पण्डित ला प्लेस ने उत्तर दिया कि मुझे ऐसी कल्पना की कहीं भी आवश्यकता नहीं मालूम हुई। उसने अपनी पुस्तक में न तो कहीं दर्शनों से काम लिया, न किसी विश्व के रचयिता की कल्पना से, साथ ही उसने गणित का भी प्रयोग नहीं किया था। लेकिन बाद में गणितज्ञों ने इसके विचारों को गणित की कसौटी पर रखा तो सत्य ही सिद्ध हुआ। आज कल विज्ञान के जितने भी महत्वपूर्ण ग्रंथ देखे जाते हैं, कहीं भी उनमें ईश्वर की ज़रूरत नहीं दिखाई देती। बिना ईश्वर के माने ही सारी की सारी समस्याओं की मीमांसा हो जाती है। मानवीय ज्ञान में कहीं भी ईश्वर को स्थान नहीं मिलता। हमने जो कुछ ऊपर लिखा है, उससे प्रकट है कि मनुष्यों का स्वातन्त्र्य, साम्य और बन्धुत्व विनष्ट करने में धनपात्रों, पूंजीपतियों, ज़बरदस्तों, राजकर्मचारियों आदि काबूयाफ़्ता लोगों का जितना हाथ है, उतना ही धर्म्म का भी है। धर्म्म अत्याचारियों को सहायता देता है, ग़रीबों तथा दुखियों को और भी अधिकतर ग़रीब और दुःखी बनाता है।

किसी समय योरोप में धर्म्म के नाम पर ऐसे अत्याचार हुए हैं कि उन्हें देखकर शैतान, जिसे धर्म्म के माननेवालों ने इतना बुरा चित्रित किया है, यदि सचमुच होता तो लज्जा से सर झुका लेता। योरोप का धर्म्म इतिहास (History of the church) इसका साक्षी है। इनक्वीज़ीशन के कानून ने क्या कुछ अत्याचार नहीं किया? यह कानून पुरोहित-राज पोप की तृष्णा-पूर्त्ति के लिये धर्म्म-विरोधी की खोज करके उसे प्रताडित करने के लिये बनाया गया था। बेचारे 'मूर' जैसे सज्जनों की हत्या का दायित्व धर्म या ईश्वर के ही सर पर है। ब्लैंको के हत्याकाण्ड में भी पवित्र ईश्वर और धर्म्म का ही हाथ था। धर्म्मान्धता के नाश के साथ ही साथ पाश्चात्य देशों के अभ्युदय का इतिहास आरम्भ होता है, और धर्म्म व ईश्वर के पतन से ही सोवियट सरकार के जन्म का सूत्रपात रूस में हुआ। इतनी ऐतिहासिक घटनाओं के होने पर भी जो धर्म्म के नशे के मतवाले हैं, उन्हें बुद्धिमान् समझें या क्या? यह हमारी समझ में नहीं आता।

भारत में भी शैवों, शाक्तों, वैष्णवों की पारस्परिक कटा छनी का पता पुराणों से मिलता है। स्मार्तों, तान्त्रिकों और श्रोत्रियों के वैर भाव का हाल हिन्दू मात्र अपने ग्रन्थों को पढ़ कर जान सकते हैं। मुसलमानों की पारस्परिक धार्म्मिक दल बन्दियों और झगड़ों का हाल जानना हो तो 'असना अशारिया' नामक पुस्तक को पढ़कर देखिए। यह पुस्तक फारसी भाषा

में भारत में भी मिल सकती है। सम्भवतः इसका उर्दू-संस्करण भी मिलता होगा। इसमें बहत्तर फिर्कों के भेदों का वर्णन है। बौद्धों और वैदिक धर्म्मावलम्बीय ईश्वरवादियों में जो झगड़े हुए वह भी हमसे छिपे नहीं हैं। शंकर स्वामी के शिष्यों ने बौद्धों के साथ जो ज़बरदस्तियाँ कीं उन्हें हम चाहें तो अच्छी तरह पुस्तकों को पढ़कर जान सकते हैं। जैनियों में श्वेताम्बरी, दिगम्बरी, तेरह पंथी, स्थानकवासी और आत्मारामी प्रभृति सम्प्रदायों की मोर्चेबन्दी, झगड़े-लड़ाई हमारी आँखों के सामने हैं। यदि धर्म्म की कल्पना न होती तो इन सारे झगड़ों का भूमण्डल पर नामोनिशान न होता, न इतिहास के पृष्ठ इन अमानुषिक कृत्यों से गन्दे होते। इन सबका दायित्व ईश्वर और धर्म्म के माननेवालों पर ही है।

संसार की सम्पत्ति को धनपात्र, राज्याधिकारी और पुरोहित मण्डल खूब बेदर्दी के साथ उड़ावेंगे क्योंकि ईश्वर ने उन्हें दिया है। बिचवनिए दलाल, सट्टोरिए, छोटे व्यापारी बचे हुए धन के भोगने के लिए बने हैं। राज-कर्म्मचारी और सैनिक मनमानी सम्पत्ति का विध्वंस करेंगे। लेकिन जन समूह को वही टुकड़ा और धक्का बदा है। इनके लिए इनके ईश्वर का आदेश ही यह है कि निर्धन तो संसार में बने ही रहेंगे, तुम खाओ-पिओ, मौजें मारो। क्या हम लोग ऐसे ईश्वर की परवा करते पड़े रहेंगे? अब संसार से भुक्खड़ों की श्रेणी, गरीबों का

नाम, गरीबों का दृश्य मिटाना होगा, और इस काम के लिए ईश्वर को अर्द्धचन्द्र देकर निकालना अनिवार्य है। हमें अब पक्षपाती, निर्दय, कल्पित ईश्वर की ज़रूरत नहीं रही।

अब वह समय नहीं रहा कि मुसलमानों के बालक कुरान रटने में अपने जीवन का पवित्र और उत्तम अंश बरबाद कर डालें, या ईसाई बालक इञ्जील की आयतों, गीतों या भजनों में जीवन गँवावें। न अब दूसरे ही धर्म्म वाले अपने धर्म्म के नाम पर अच्छे काम करने के स्थान पर आँख बन्द करके दकियानूसी रद्दी किताबों के मन्त्र या आयत अगणित बार बड़बड़ावेंगे। संसार होश में आता जाता है और पुरोहिती तथा कल्पित बेहूदगियों का अन्त होने वाला है। अब महात्मा मसीह की यह अयौक्तिक शिक्षा कि 'जो तुम्हारे एक गाल पर थप्पड़ मारे उसे अपना दूसरा गाल भी फेर दो' संसार को धोके में नहीं डाल सकती। हम देखते हैं कि गाय, भेड़, बकरी आदि सीधे प्राणियों को उनकी शान्ति प्रियता के कारण कोई नहीं छोड़ता। रोज़ बड़े-बड़े मौलवी, पादरी और पण्डित उन्हें मार-मारकर हड़प करते चले जाते हैं। शेर और चीतों का न कहीं बलिदान होता है, न कुरबानी, न इनको कोई मारकर खाता है। इसलिए ऐसी उलटी शिक्षा देनेवाले अब संसार में प्रतिष्ठा नहीं पा सकते।

म० मसीह कहते हैं—"Thou Shalt not Kill thy neighbour," a christian has no right to exploit his

brother. "Turn thy right cheek when Smitten on the left."

तू अपने पड़ोसी को मत मार (यहाँ पड़ोसी का अर्थ है हरेक मनुष्य)। पर क्या जर्मनी, फ्रांस, इटली और ग्रेट ब्रिटेन के ईसाई चुपचाप बाएं गाल पर थप्पड़ खा कर दाहना गाल दूसरे तमाचे की प्रतीक्षा में फेर देते हैं? आपस में थोड़े से आदमियों के लाभ के लिए लाखों के गले नहीं काटते-कटवाते? क्यों अपने पड़ोस के लोगों को लूटने की ही चिन्ता में ईसाइयों और मुसलमानों का समय बीतता है? फिर हम धर्म्म के झूठे ढकोसलों में फँसना कैसे पसन्द कर सकते हैं। लुटेरे लोग और डाकू जातियां धर्म्म-उपदेश को सुन-सुनकर मन में मुसकराती और कहती हैं "लो मौलवीजी, पादरी साहब, पण्डित महाराज हम आपको धन देते हैं, आप दुनिया को उपदेश करें जिसमें सब सोते हुए बे होश पड़े रहें और हम सब को खूब लूटें।" इस दशा में क्या ईश्वर की कल्पना निर्द्धनों, कमज़ोरों, और भोली-भाली सर्वसाधारण जनता के लूटने का एक खासा साधन नहीं है? है, इसलिए ईश्वर और धर्म्म को जितनी जल्दी संसार से नेस्त नाबूद कर दिया जाय उतना ही अच्छा।

मनुष्य का कल्याण इसी में है कि वह नैसर्गिक नियमों के अनुसार चले क्योंकि उनको उसी ने प्रत्यक्ष किया है। उसके सर पर किसी व्यक्ति या समष्टि ने उन्हें ज़बरदस्ती नहीं लादा। जो ऐसे नियमों को मानते हैं, जिन्हें किसी डाकू या

डाकुओं के गरोहने बनाकर अपने या कल्पित ईश्वर के नाम से जारी किया है वह क्या वज्र मूर्ख नहीं है? वह बिना सींग और पूछ के पशु हैं और जो इस तरह नियम बनाकर धर्म्म या अधिकार के नाम पर उन्हें लोगों से मनवाते हैं वह जंगल के हिंसक पशुओं के मौसेरे भाई हैं। अधिकार-प्राप्त पुरोहितों, शासकों और धनपात्रों का यह स्वाभाविक लक्षण है कि वह जन समूहों के दिल और दिमाग़ को—मन और बुद्धि को—मुर्दा बनाकर छोड़ देते हैं। इसलिए अधिकार प्राप्त लोगों के हृदय और मस्तिष्क दोनों कुत्सित होते हैं। यह कुत्सित हृदय लोग विद्वानों, वैज्ञानिकों, बड़े-बड़े लेखकों और वक्ताओं को धन देकर अपना ग़ुलाम बना लेते हैं। हम तो रोज बड़े-बड़े सिद्धान्त की डींग मारनेवालों, संन्यास का झण्डा उठाने वालों, राजनीति में बाल की खाल खींचनेवालों, दम्भपूर्ण नेताओं को धनिकों के सामने कठपूतली की तरह नाचते देखते हैं। इनमें से एक भी निर्धन और ग़रीबों में रह कर, उनका सा जीवन व्यतीत करके उन्हें उनके स्वत्वों से सावधान वा जान कार करने नहीं जाता। मैं नहीं समझता कि ईश्वर और धर्म्म किस मर्ज की दवा है? धर्म्म ज्ञान किस खेत की मूली या बथुआ है? सम्प्रदायों और समुदायों के नेता किस जंगल की चिड़िया हैं? आज यदि हम इस अन्धविश्वास को छोड़ दें, ईश्वर, धर्म्म और धनवानों के एजेंटों व नेताओं से मुँह मोड़ लें, अपने पैरों पर खड़े हों, तो आज ही हमारा कल्याण हो सकता है।

हम किसीकी प्रतिष्ठा करने के लिए नहीं पैदा हुए, हम सबके साथ समान भाव से रहने के लिए जन्मे हैं। न हम किसीके पैर पूजेंगे न हम अपने पैर पुजवावेंगे, न हमें ईश्वर की ज़रूरत है, न पैग़म्बर और अवतार की, न गुरु बननेवाले लुटेरों की।

न्यायानुमोदित, धर्म्मानुमोदित या उचित वही है जो बुद्धि-ग्राह्य हो, विज्ञानानुमोदित हो, मनुष्य-स्वातन्त्र्य का संरक्षक हो। इसके विरुद्ध सारे अधिकार, सारी व्यवस्थाएं मिथ्या हैं, त्याज्य हैं, अत्याचाराश्रित और घातक हैं। किसीने ठीक ही कहा है कि 'हमारा अवतार और पैगम्बर विज्ञान है, हमारा धर्म्म विवेक है, हमारा ख़ुदा संसार के मनुष्यों का समूह है। ईश्वर और उसके आश्रित धर्म्म और राज्य दोनों ही मनुष्य के प्रधान शत्रु हैं। जहाँ अधिकार के नाम पर काम होता है वहीं ईश्वर और शैतान की पैदाइश होती है। दोनों ही अजीबुल-खिलकत जीवों को धक्का देकर सुखी होने के लिए हमें इनके पिता 'अधिकार' का ही नाश करना श्रेयस्कर है। आज तक धर्म के नाम पर हमें लुटेरों ने जितना लूटा है वह सब हम वापस लेने का प्रयत्न करें और सबसे प्रधान डाकू 'ईश्वर' के पैरों को महिमण्डल पर जमने न दें, यही हमारा इस समय प्रधान कर्तव्य है।

ईश्वर के पूजनेवाले, दास वृत्ति का समर्थन करनेवाले कहते हैं कि यदि धार्म्मिक बुद्धि वालों को देश का या और

किसी संस्था आदि का काम सौंपा जाय तो वर्तमान समाज भी बुरा नहीं है। कानून बुरा नहीं होता, वर्तने वाले ही बुरे होते हैं। ईश्वर बुरा नहीं है, उसकी आज्ञा को न माननेवाले ही बुरे हैं। राजा अच्छा भी होता है, बुरा भी। बुरा राजा बुरा है। बुराई बुरी है, न कि राजा का पद ही बुरा है।

यह हमारे भोले भाइयों की नादानी है। भाँग बुरी नहीं है, हाँ, भाँग पीकर होश खो देनेवाले बुरे हैं। वाह वा। मैं कहता हूँ कि कानून हो ही क्यों? न कानून होगा न कोई उसे बुरी तरह से वर्तेगा। न ख़ुदा होगा, न उसके नाम पर हज़ारों लाखों टन काग़ज़ रद्दी किया जायगा। मनुष्य यदि सोचकर अपने समाज का संगठन करें, तो वह ईश्वर, राजा, कानून के बिना भी बहुत आनन्द के साथ रह सकते हैं। ख़ास कर ख़ुदा जैसी पहेली तो नितान्त ही अनावश्यक और व्यर्थ है। मैंने गत २७ वर्षों से ख़ुदा की परवा नहीं की, इससे मेरा कुछ भी हर्ज नहीं हुआ, उलटे सब काम बहुत अच्छे हुए हैं। मैं पहले से अधिक संयमी, मनुष्य-भक्त और समाज-सेवा का प्रेमी बन गया हूँ, क्योंकि मैं अपने कामों को ही प्रधानता देता हूँ। हिन्दू सभा के सभापति की तरह मैं यह नहीं कहता कि 'ईश्वर हमें शक्ति से भरदे, हमें हिम्मत दे और हे सरकार हमारी रक्षा कर, हम तुझे चेतावनी देते हैं कि यदि तू ने हमारी रक्षा न की तो हम रो देंगे। तेरे परदादा ईश्वर का नाम ले-लेकर हाय-हाय मचावेंगे।'

मैं कहता हूँ कि मनुष्य बल से पूर्ण है, वह उसीसे काम ले। भीख माँगना, प्रार्थना करना, हमें नीच और कायर बनाता है, जो ज्यादः गायत्री जपी जायगी तो हिन्दू भी चोरी, डकैती, लड़कों औरतों का चुराना आदि नीचता सीख लेंगे। ईश्वर मूर्खों के लिए अन्धेर का घर है। बस, इस सम्बन्ध में इस समय मैं अपना वक्तव्य समाप्त करता हूँ।

नोट—यह वक्तव्य माधुरी के ४ अंकों में सन् १९२५ के नवम्बर से १९२६ की फरवरी तक में छपा है।

धर्म और ईश्वर

जब हम देखते हैं कि मनुष्य भी पशु ही है, किन्तु वह अन्य पशुओं से बहुत ऊँचा है। वह ऐसी परिस्थिति को पहुँच गया है कि पशु-जीवन से भिन्न नजर आता है, इसीलिए उसे हम पशु नहीं कहते। इसका कारण उसका विकाश और उत्कर्ष है। हम सोचते हैं, तो हमें उसके विकाश के दो कारण प्रतीत होते हैं। पहली उसको उठानेवाली बात शक्ति और ज्ञान है, जिन्हें प्राप्त करके वह धीरे-धीरे प्रकृति के वश से निकल कर, उस पर प्रभुत्व करने की ओर अग्रसर होता जा रहा है। वह मनुष्य जाति की आवश्यक, सुख और सुविधाजनक चीज़ों को प्रकृति से छीन कर, अपने सजातियों में प्रसारित करता या बाँटता है। वह समझ गया है कि उसके पारस्परिक सम्बन्ध, बिना प्रकृति से प्राप्त पदार्थ के जैसा चाहिए, वैसा आराम नहीं दे सकते। मनुष्य स्वयम् प्रकृति-जन्य सम्पत्ति है, क्योंकि वह बुद्धि और शरीर से काम करता है और अपनी जाति को नष्ट न होने देने के उद्देश से उसकी अभिवृद्धि करता

रहता है, इसमें उसे दूसरे के सहयोग की आवश्यकता होती है।

फिर यह भी देखा जाता है कि प्रत्येक व्यक्ति मानवी उन्नति और उत्कर्ष का किंवा संस्कृति का सहज शत्रु भी होता है। एक ओर तो वह दूसरे प्राणियों की तरह अकेला नहीं रह सकता; एकान्तवास उसे असह्य दण्ड प्रतीत होने लगता है, दूसरी ओर सामाजिकता के लिए जिस त्याग की नितान्त आवश्यकता है; जिसके विना सामाजिक जीवन असम्भव है, उससे जी चुराता है। इसलिए व्यक्तियों की अयौक्तिक और व्याघातक बातों से मनुष्य को संस्कृति की रक्षा करनी अवश्यम्भावी हो जाती है। सामाजिकता और वैयक्तिक स्वार्थ-तत्परता दोनों युगपत् चल नहीं सकतीं; एक दूसरे की बाधक हैं। इसलिए समाज में नियमों, प्रतिबन्धों और श्रृङ्खला की ज़रूरत होती है। बिना इसके न पदार्थ ठीक-ठीक उत्पन्न हो सकते हैं, न समाज में वितरण हो सकते हैं। जो कला और विज्ञान हमें समुन्नत और सुखी बनाता है, वही हमारा सर्वनाश भी कर सकता है।

इस विचार से जब समाज में निरङ्कुशता और नृशंसता की रोक-थाम करने के लिए थोड़े से वैज्ञानिक, कलाकुशल और बलशाली लोग शासन-दण्ड धारण करतें हैं तो वह बहुसंख्यक प्रजा को धीरे-धीरे पीसने लगते हैं। स्पष्ट है कि यह दोष उन्नति और उत्कर्ष या दोनों के योग और संस्कृति में,

स्वाभाविक नहीं होते। संस्कृति और समाज के निर्माण में ही कमी रहती है। हमें देखना है कि वह कमी क्या है। निस्सन्देह मनुष्य ने बहुत अच्छी और प्रशस्त उन्नति की है, करता जा रहा है और करता रहेगा। उसने प्रकृति को जीता है और अभी और अच्छी तरह से उस पर विजय प्राप्त करेगा, लेकिन उसने अपने समाज के प्रबन्ध में उतनी उन्नति नहीं की कि जिससे लोगों की आपत्तियाँ और शङ्काएँ बढ़ने के बदले कम होतीं। हम ख़याल कर सकते हैं कि मनुष्यों के सामाजिक या पारस्परिक सम्बन्ध ऐसे होने सम्भव हैं, जिनसे मनुष्य की सहज भावनाओं को कुचलना और दबाना बन्द करके हम उन निमित्तों को ही मिटा दें, जिनसे संस्कृति के प्रति लोगों में असन्तोष पैदा होता है। इससे भीतरी खींच-तान मिट कर, आदमी प्रकृति के पदार्थों की प्राप्ति में लग जायँगे और उनका शान्तिपूर्वक उपभोग करेंगे। सारांश यह कि मनुष्यजाति के भीतर से समाज के विरोध का भाव एकदम मिटा देना ही सर्वोपरि अभीष्ट है। अब यह एक मनोवैज्ञानिक प्रश्न बन जाता है, अतः दृश्य जगत् के नैसर्गिक प्रश्न के साथ-साथ मनोवृत्ति का प्रश्न भी उपस्थित हो जाता है। अगर हम किसी प्रकार जनता की बड़ी संख्या को कला-कुशल और वैज्ञानिक बना दें और उसका शासन थोड़े से ज्ञात मूढ़ों और नादानों पर रहे, तो यह संस्कृति के भीतर घुसा हुआ दोष क्रमशः दूर हो सकता है।

लोग कहते हैं, मनुष्य स्वभावं से ही आलसी और कमज़ोर होता है, लेकिन प्रत्यक्षवादी इस बात को मानने के लिए तैयार नहीं हैं। वास्तव में समाज की संस्कृति के दोष से ऐसा दिखाई पड़ता है। वैयक्तिक सम्पत्ति और सोने-चाँदी सदृश रद्दी पदार्थों को अन्नवस्त्र से अधिक प्रतिष्ठा देना अगर समाज से उठ जाय, तो मनुष्यों में से बहुत बड़ी सीमा तक ईर्ष्या, कटुता, विषमता और प्रतिद्वन्द्विता आदि मिट सकती हैं। एक नई पीढ़ी युक्ति, तर्क और विशुद्ध ज्ञान के आधार पर प्रेमपूर्वक शिक्षित और दीक्षित की जाय, जिसे संस्कृति के मधुर फलों के सिवा कटुता का अनुभव न करना पड़े, तो वह निस्सन्देह समाज और संस्कृति का कोई दूसरा ही भाव (सद्भाव) रखनेवाली जनता होगी। इसमें त्याग और सच्ची सामाजिकता का स्वयम् आविर्भाव होगा। ये लोग सताना और दबाना छोड़कर हमारे वर्तमान शासकों और नेताओं से कहीं भिन्न स्वभाववाले सच्चे मनुष्य बनेंगे।

ऐसा होने को असम्भव समझ कर बैठे रहना, सहल इन्कारी के सिवा और कुछ नहीं कहा जा सकता। इस प्रश्न के कई पहलू हैं, हम यहाँ पर साम्पत्तिक और मानसिक पहलुओं को ध्यान में रख कर, कुछ जानने योग्य बातें लिखना चाहते हैं।

जब हमें मालूम हो गया कि प्रत्येक संस्कृति का आधार अनिवार्य श्रम और सहज समझ अनुमोदित त्याग है, तब

उसका यह अनिवार्य फल भी होगा कि जिन पर इसका बोझ पड़े वे विरोधी हो उठें। अब स्पष्ट होगया कि पदार्थ, उनके प्राप्ति के साधन और उनको समाज में वितरण करने के प्रबन्ध मात्र संस्कृति के आवश्यक लक्षण नहीं हो सकते, क्योंकि संस्कृति के अन्दर ही बग़ावत और विध्वंसक वासनाएँ प्रस्तुत मिलेंगी। इनको दबा कर संस्कृति की रक्षा के लिए कुछ बल के प्रयोग की ज़रूरत होगी, साथ ही विरोधियों को उनका सुखद बदला दिखला कर, राज़ी करना पड़ेगा। यह संस्कृति का मानसिक अङ्ग या स्थान है।

परन्तु इतना करने पर भी मनुष्य की उद्दण्डता एकदम मिटती नहीं दीखती। हत्या, मार-पीट, व्यभिचार आदि किस देश या समाज की संस्कृति में नहीं हैं? और इन अनेक विषयों पर विभिन्न संस्कृतियों में मतभेद भी हैं। बहुत सी बातें ऐसी मिलती हैं, जो संस्कृति-विरुद्ध और समाज से वर्जित होती हुई भी एकदम मिट नहीं सकीं, कई बातें तो मिटी नहीं या बहुत कम मिटी हैं। यद्यपि मनुष्य की बुद्धि और मन ने प्राचीन काल की अपेक्षा अब बहुत उन्नति कर ली है, फिर भी उसकी पशु-बुद्धि आज तक उसमें ज्यों की त्यों और जहाँ की तहाँ बनी है। बहुत बातों के लिए मनुष्यों को अब बाहरी दण्ड-विधान की ज़रूरत नहीं रही, उनके भीतर ऐसे भाव घुस गये हैं कि वे बहुत कुछ स्वतः समझ-बूझ कर रहते हैं। लेकिन पशुता का नितान्त उन्मूलन असम्भव बना हुआ है।

मनुष्य-समाज में इसी संस्कृति की रक्षा के उपायों का नाम नीति रक्खा गया है। इसीसे भले-बुरे का भेद अपनी-अपनी समझ के अनुसार प्रत्येक संस्कृति-संस्थापकों ने रक्खा है और उसमें समय-समय पर परिवर्तन भी होता रहता है; क्योंकि मनुष्य का ज्ञान और उसका अनुभव उत्तरोत्तर बढ़ते जाते हैं। इस नीतिमत्ता की स्थापना और स्थिरता का सबसे बड़ा कारण यह है कि उसे दूसरे की सहायता की ज़रूरत पड़ा करती है। उसने प्रकृति को एक सीमा तक जीता है, परन्तु उसे पूरा-पूरा वश में करना मानवी शक्ति के बाहर है। जल, वायु, अग्नि आदि कभी-कभी हमारी सारी चतुरता को चुटकी में उड़ा देते हैं। भूकम्प धरती को उलट सकता है; जल की बाढ़ हमें जल-समाधि दे सकती है; आग, क्षण भर में दूर-दूर तक प्रलय का दृश्य दिखा सकती है; बीमारी सबको या अधिकांश को एक साथ नष्ट कर सकती है। इन अवस्थाओं में हम पारस्परिक विरोध भूल जाते हैं, हममें दया का भाव उदय होता है। इसी प्रकार हमें अनेक कामों में दूसरे के हाथ-पैरों और बुद्धि की सहायता अनिवार्य होती है, इसीलिए हममें सहयोग-बुद्धि का उदय होता है। सहयोग के भाव को स्थिर रखने के लिए और एक-दूसरे के प्रेम की हममें जो स्वाभाविक बातें हैं, उन सबकी रक्षा के लिए जो ज़रूरी नियम अनुभव से स्थिर हो जाते हैं, वही नीति है। यह सब मन से सम्बन्ध रखनेवाले व्यापार हैं। इन्हीं मानसिक विचारों में धर्म और ईश्वर की कल्पना उत्पन्न हो उठती है।

अब हम देखते हैं कि धर्म का उपयोग क्या है। जब संस्कृति, जो दबाव हम पर डालती है और जिस सहज त्याग को वह हमसे चाहती है, उसी कारण उसका विरोध होता है, तो हम इन बाधाओं को मनुष्य के जीवन-मार्ग से हटा क्यों न दें, मान लें कि ये बाधाएँ हटा दी गईं। इस दशा में हम यही देखेंगे कि जो जिसका जी चाहता है, करता है। कोई पुरुष प्रतिबन्ध-हीनता से अपनी काम-वासना की परितुष्टि के लिए चाहे जिस स्त्री को पसन्द करके व्यवहार में लावेगा, इसी तरह स्त्री भी करेगी। हर एक अपने प्रतिस्पर्धी को बिना रोक-टोक पीट सकेगा, या जान से मार सकेगा। लूट-खसोट, छीना-झपटी जैसी पशुओं में देखी जाती है, मनुष्य में भी दीखेगी। यह निरङ्कुश जीवन कितना सुन्दर होगा? प्रत्येक आदमी को स्वेच्छाचार की इच्छा होगी, जैसा एक दूसरे के साथ व्यवहार करेगा, वैसा ही दूसरा भी उसके साथ करेगा। इस तरह के समाज में वही एक आदमी सारे सुखों के साधन का स्वामी बन जायगा। जिसमें शक्ति है, जिसके हाथ में सब पर अत्याचार करने का साधन और बल है। दूसरे देशों का जीतना और दूसरा क्या अर्थ रख सकता है।

लेकिन बात धीरे-धीरे उसको भी खलने लगेगी, जो संस्कृति को मिटाने का पक्षपाती था, क्योंकि अव्यवस्था से हम अपनी प्राचीनतम प्रकृत अवस्था पर पहुँच जायँगे। इसमें सन्देह नहीं, कि प्रकृति हमारे सहज समझ के अनुसार किये

कामों में प्रकृत में कोई बाधा नहीं देती, परन्तु वह परोक्ष रूप से अवश्य बाधक होती है और हमें बड़ी बेदर्दी के साथ मिटा कर छोड़ती है। इसीलिए हम सङ्घ रूप में सङ्गठित होकर रहते हैं और एक संस्कृति उत्पन्न कर लेते हैं। इसीके सहारे हमारा जीवन सम्भव होता है। संस्कृति का यह प्रधान काम है कि हमारी रक्षा करे। प्राकृतिक अवस्था में रहने से हमें जो कष्ट होते हैं, उनसे सम्मिलित उत्कर्ष और सभ्यता के महत्व का पता चलता है। हमें मनुष्य जाति को सुरक्षित रखने की चिन्ता पैदा होती है और साधन समझते हैं।

जिस तरह छोटा लड़का विवशता और पराधीनता की दशा में पिता-माता से डरता है और उनकी दया पर ही उसका जीवन निर्भर होता है, इसलिए वह पिता-माता की बहुत प्रतिष्ठा भी करता है और उन्हें नाराज़ नहीं करना चाहता। इसी तरह प्रकृति से विवश होकर पहले के कम उन्नत मनुष्य, उसके अत्याचारों से डर कर, उसे पूजने लगे। जल, वायु, अग्नि प्रभृति मनुष्य के उपास्य देव हुए। इन देवताओं का काम हुआ प्रकृति के भय को दूर करना। निसर्ग की निर्दयता के समय सान्त्वना देना, सन्तोष सिखाना और मनुष्य पर जो कष्ट सामाजिक संस्कृति की अधीनता से हो जायँ, उनका हटाना। इस अभिप्राय से मनुष्य ने अपने कल्पित देवताओं को प्रकृति का स्वामी माना।

जब हमने देखा कि देवताओं से हमारे कष्ट दूर नहीं किए जा सकते, तब ध्यान होने लगा कि भवितव्यता भी कोई चीज़ है, जिसका दर्जा देवताओं से भी ऊँचा है, देवता लोग भी भवितव्यता के अधीन रहते हैं। फिर धीरे-धीरे संस्कृति-सम्बन्धी नियमों को भी दैवी विभूति मानने लगते हैं और उनका दर्जा मनुष्य समाज से भी ऊँचा बना देते हैं और नियमों को प्रकृति का भी अधिकारी मान बैठते हैं।

इस तरह मनुष्य की विवशता ऐसे-ऐसे मनोरञ्जक काल्पनिक, सुख-शान्ति-परक विचार का ढेर कर देती है और लोग समझने लगते हैं कि अब हम इनके द्वारा प्रकृति और भाग्य के अत्याचारों से बचेंगे और हमें सामाजिक बुराइयों से भी त्राण मिलेगा।

लोग कहने लगते हैं, जीवन का उद्देश्य बहुत ऊँचा है। इसमें सन्देह नहीं कि उस ऊँचे उद्देश्य की हम कल्पना भी नहीं कर सकते, हाँ यह अवश्य मान लेते हैं कि इससे मानव-जीवन दोषरहित, सर्वाङ्ग-पूर्ण हो जाता है। इसी प्रकार धीरे-धीरे मनुष्य जीवात्मा को शरीर से अलग कर लेता है और उसीको इस महत् और उच्च स्थान का अधिकारी जान लेता है। उसे ख़्याल होता रहता है कि इस संसार में जो कुछ भी हो रहा है, या होना है, वह हमसे कहीं अधिक किसी बुद्धि का किया हुआ काम है। वह सर्वाङ्गपूर्ण निर्दोष बुद्धि जो मनुष्य की बुद्धि से बहुत उच्च स्थानीय है, जो करती है, सब हमारे हित के लिए

ही जाती है। एक बड़ी भारी अदृश्य-शक्ति, जो देखने में कठोर है, उसकी निरीक्षिका और नियन्त्री है। वह हमें प्राकृत शक्तियों की क्रूरता की वेदी पर बलि नहीं होने देगी, हमारी रक्षा करेगी। हम समझने लगते हैं कि मृत्यु से हम मिट नहीं जाते, किन्तु हमको नए प्रकार का कोई जीवन प्राप्त होता है और हम अधिक उन्नति के पथ पर अग्रसर होते जाते हैं। हमारे सामाजिक और नैतिक नियम, जिनसे संस्कृति बनती है, वे भी सारे विश्व पर शासन करते हैं। सामञ्जस्य के साथ सर्वोच्च न्याया-से स्थिर रक्खे जाते हैं, परिपुष्टि पाते रहते हैं। इस तरह हर भलाई का पुरस्कार मिलता है और हर बुराई के लिए दण्ड। यदि यह पुरस्कार या दण्ड इस जीवन में नहीं मिलता तो क्या मरने के पश्चात् के जीवन में मिलेगा। इस प्रकार मनुष्य-जीवन के सारे भय, कष्ट और दुःख अवश्य ही मिट जाने वाले हैं। उस अदृश्य जीवन में उन सारी कमियों की पूर्ति हो जायगी, जो हम यहाँ पूरी नहीं कर सके, वह सारे सुख हमें मिलेंगे, जिनसे हम आज वञ्चित हैं। यह दैवी जीवों के गुण हैं, दैवी नियमों के महत्व हैं, इसी में सारे देवताओं को घनीभूत करके रख दिया गया है। जिन जातियों ने इस अनोखी बात को सोच कर गढ़ा, वह अपनी इस उन्नति के लिए बड़ा अभिमान करती हैं।

यह धार्मिक भाव निस्सन्देह बहुत काल में समुन्नत होते-होते यहाँ तक पहुँचे और इन्हें जुदा-जुदा देशों की विभिन्न

संस्कृतियों ने विभिन्न रूपों में माना है । आज यही धर्म सभ्यता का सर्वोत्तम रत्न समझा जाता है। इससे हमारे सारे ऐहिक और पारमार्थिक अभावों और अभियोगों की पूर्ति होती है। जो आदमी इसका विरोध करता है, उसका जीवन समाज को असह्य हो जाता है, कितने ही अन्धविश्वासी मूर्खों ने इस मतभेद के कारण अपने विरोधी को जान से मार डाला।

यहाँ यह शङ्का की जाती है कि तुम्हारी यह बात हमारी समझ में नहीं आती कि 'संस्कृति धार्मिक भावों को पैदा करके उन्हें अपने परिकर में फैलाती है।' यह बात उतनी विस्पष्ट और प्राकृतिक नहीं प्रतीत होती, जितना यह कहना कि संस्कृति ने ही श्रम के फल को सब लोगों तक पहुँचाने के नियम बनाए और स्त्री-बच्चों पर अधिकार स्थापित किया।

ऐसी शङ्का अनुचित नहीं कही जा सकती। प्रकट में तो यही जान पड़ता है कि धार्मिक भाव भी उसी आवश्यकता से प्रादुर्भूत हुआ, जैसे संस्कृति के और दूसरे फल हमें मिले। इसका भी अभिप्राय प्रकृति के घातक प्रभुत्व से संस्कृति की रक्षा करना है। दूसरा अभीष्ट यह है कि इसके (धर्म के) द्वारा संस्कृति की त्रुटियों को मिटाया जाय। संस्कृति ही अपने अनुकूल एक धर्म की कल्पना कराने का कारण होती है। धर्म में भी मनुष्य पीढ़ी-दर-पीढ़ी उसी तरह दीक्षित होता रहता है, जैसे गणित-विद्या में। अन्तर यही होता है कि गणित

आदि सच्चे और प्रत्यक्ष विज्ञान हैं और धर्म की परोक्ष कल्पना ही ईश्वर के नाम पर ईश्वरीय ज्ञान कह कर सामने देखी जाती है। ईश्वरीय-कल्पनाजनित-धर्म अपनी ऐतिहासिक व्युत्पत्ति और क्रमशः विकाश उत्कर्ष का कोई पता नहीं देता, जिस पर तर्क और दूसरे विज्ञान को विश्वास हो सके। इसका भी कोई कारण नहीं मिलता कि जुदा-जुदा युगों और विभिन्न संस्कृतियों में यह अलग-अलग क्यों हैं, एक सा धर्म सर्वत्र क्यों नहीं है? अनुधावन से अनुमान होता है कि मनुष्य जाति ने अपनी बाल्यकालीन अज्ञानावस्था में जो कुछ प्राकृत दृश्य देखे, उन्हें यही समझा कि यह मेरे सदृश किसी मनुष्य के ही कृत्य हैं। यही उस व्यक्ति के मान लेने का कारण हुआ—लेकिन यह कारण स्वयम् सिद्ध नहीं है; फिर भी मनुष्य ने इससे सन्तोष प्राप्त किया। इसीलिए हमारे यहाँ के अनेक सरल हृदय विद्वान् भी फ्रान्सीसी विद्वान् वाल्टेयर की तरह कहते हैं कि धर्म और ईश्वर से समाज को बड़ा लाभ हुआ और होता है; इसे अक्षुण्ण बना रहने देना चाहिए।

सच तो यह है कि जब मनुष्य प्रकृति के बल (Force) को विभिन्न रूप में देख कर उनको पृथक्-पृथक् व्यक्ति समझ लेता है, तो यह उसकी बाल्यावस्था की सी नादानी ही है। जिस तरह बालक एक खिलौने को लेकर फिर उसे नहीं छोड़ता- जो छुड़ाता है उससे नाराज़ होता है, उसी तरह धर्म और ईश्वर के सम्बन्ध में विचारहीन लोगों का हाल है। हमें

कोई भी विश्वास के लायक़ ऐसी बात नहीं मिलती, जिसके आधार पर इन निराधार कल्पनाओं पर विश्वास कर लें और उन्हें विज्ञान का स्थान दें। बालकों को नाना प्रकार के नामों से भय दिखलाया जाता है, बाबाजी और हौवा हमारे प्रान्त के लोगों में बहुत प्रचलित हैं। बच्चा इन्हें सच्ची व्यक्तियाँ समझ कर डर जाता है, किन्तु बड़े होने पर वह समझता है कि यह कल्पना-मात्र थी, वास्तव में कुछ न था। इसी प्रकार मनुष्य जाति की अवस्था और ज्ञान ज्यों-ज्यों परिपक्व होते जाते हैं, त्यों-त्यों वह दैवी शक्ति की कल्पना को अच्छी तरह धीरे-धीरे समझता जाता है।

प्रकट है कि धर्म कुछ सिद्धान्त-समुच्चय का नाम है, कुछ ऐसी घटनाओं और आन्तरिक या वाह्य (भीतरी या बाहरी) वास्तविकता का कथन मात्र है, जिनसे हमें ऐसी-ऐसी बातें मिलती हैं, जो कभी हमारे अनुभव में नहीं आई। फिर वह बातें इसलिए कही जाती हैं कि हम उन पर विश्वास करें। बातें भी ऐसी होती हैं जिनको हम हितकारी और लाभदायिनी समझने लग जाते हैं; इसलिए बिना तर्क और खोज के उन्हें मान लेते हैं। इन तर्क, युक्ति और प्रमाणहीन बातों को जो बहुत सी जान लेता है, विद्या और बुद्धि का भाण्डागार माना जाता है, और जो नहीं जानता वह मूर्ख है। दूध-दही के समुद्र, अमृत और मद्य की नहरें, स्वर्ग के विविध भोग, हमारे भौगोलिक ज्ञान पर पानी फेरने को तैयार रहते हैं। फिर भी

हमारे मूर्ख भाई ही नहीं, बड़े-बड़े पढ़े-लिखे, कभी-कभी स्वार्थ वश और कभी अविचार से उन्हीं बातों की परिपुष्टि करते रहते हैं, जिनके त्यागने में ही मनुष्य जाति का कल्याण है। कहा यह जाता है कि हम जो कुछ धर्म और ईश्वर की बाबत कह रहे हैं, संसार के विद्वानों के बहुकालव्यापी अनुभव और विचार का फल है। ठीक है, लेकिन क्या इनका कोई युक्तियुक्त, तर्कानुकूल वर्तमान अनुभव-अनुमोदित प्रमाण भी है?-इसका उत्तर हमें नहीं मिलता।

जब हम पूछते हैं कि आपका धर्म-सम्बन्धी ज्ञान किस आधार पर है, तो उत्तर मिलता है कि 'पहले तो वह विश्वास करने के योग्य है, क्योंकि हमारे बाप-दादे आदिकाल से ही उसे मानते और उस पर विश्वास करते आए हैं। दूसरे, हमारे पास पुस्तकी प्रमाण है, जो बहुत प्राचीन समय से हमारे पास चले आते हैं। तीसरे यह कि धर्म और ईश्वर के मामले में शङ्का करना मना है, बहुत बुरा है। अब पाठक स्वयम् देख लें कि पहली और तीसरी बातें इतनी वाहियात हैं कि कोई भी सयान प्राणी इनको सुनकर हँसे बिना नहीं रह सकता। दूसरी बात पुस्तकों या शब्द प्रमाण वाली रहती है। इसका भी कोई प्रमाण मान्य नहीं हो सकता, जब तक यह न सिद्ध कर दिया जाय कि वह पुस्तकें ऐतिहासिक प्रमाण कहलाने और मानने के योग्य हैं। ऐतिहासिक प्रमाण किसे कहते हैं, इसको जानने के लिए विद्वानों ने बड़ी-बड़ी पुस्तकें महत्वपूर्ण विचार के साथ

लिखी हैं, और हमारी प्रमा उन कसौटियों को, जो इन पुस्तकों में हैं, ग्रहण भी करती है। हमें संसार की धार्मिक पुस्तकों में से कोई भी ऐसी नहीं मिली, जिसे हम ऐतिहासिक प्रामाणिकता की सनद दे सकें।

फिर यह कहना कि धर्म में शङ्का करना ही उचित नहीं है, धर्म की सारी पोल खोल देता है। हमें तो सत्य के ग्रहण और असत्य के परित्याग को हमेशा तैयार रहना चाहिए। यही मानवी ज्ञान का महत्व है। यह कहना मूर्खता है कि अमुक पुस्तक में स्वयम् ईश्वर या अल्लाह ने अमुक बात लिखी है, इसे मान लो। कोई-कोई आदमी कह देते हैं कि 'ईश्वर और धर्म का मर्म हमारे मन और मेधा के बाहर की बात है।' इसके उत्तर में सिवा इसके और क्या कह सकते हैं कि 'तब तो यह विषय पागलख़ाने के लोग ही ठीक समझ सकते हैं।' धर्मान्ध लोगों ने धर्म के नाम पर बड़े-बड़े अत्याचार उन सत्यवादियों पर किए हैं, जिन्होंने उनकी तर्कहीन कल्पनाओं को सत्य मानने से इन्कार किया। हमारे पास यूरोप, अरब और भारत के धार्मिक लोगों के अत्याचार के ऐतिहासिक प्रमाण प्रस्तुत हैं और हम आज भी धर्म के नाम पर की जाने वाली नर-हत्याओं के आँखों देखनेवाले साक्षि हैं। अतः हमारा विश्वास ईश्वर और धर्म की निर्मूलता पर और भी दृढ़ हो जाता है। पुनः हम धर्म के निर्दिष्ट मतों, मूल सूत्रों या सिद्धान्तों पर केवल विवेक-दृष्टि से विचार करते हैं तो भी

कहना पड़ता है कि धर्म के सारे के सारे सिद्धान्त भ्रम-मूलक हैं। उनका प्रमाण नहीं मिलता, इसलिए उनके सत्य मान लेने के लिए कोई वाध्य नहीं हो सकता, न किसीको विश्वास करने के लिए दबाया जा सकता है। कोई-कोई तो इतने असम्भवनीय और संसार की उन सच्चाइयों से दूर हैं, जिन्हें मनुष्य ने बड़े श्रम से ढूँढ़ा और समझा है। उनमें से बहुतों की सचाई के मूल्य का निर्णय हो ही नहीं सकता, न हम उन्हें सत्य सिद्ध कर सकते हैं। उनका खण्डन करके असत्य प्रतिपादित कर सकते हैं। संसार की पहेली को हम धीरे-धीरे खोज करते-करते जानते जाते हैं, लेकिन बहुत बातें ऐसी हैं जिनका स्पष्ट उत्तर देना विज्ञान के बल के बाहर है। लेकिन वैज्ञानिक क्रिया ही एकमात्र साधन हमारे पास है, जिससे हम बाह्य सत्य का ज्ञान पा सकते हैं। यह आशा करना भी भ्रम है कि हमें स्वानुभूति से, योग की समाधि से कुछ मालूम हो सकता है। इनसे सिवा विशिष्ट अवस्था के और कुछ नहीं ज्ञान पड़ता, इस प्रकार के विशिष्ट भावों को व्यक्त करके बताना भी दुस्साध्य होता है। धार्मिक सिद्धान्तों से हमारे मानसिक जीवन की भी कोई विश्वस्त बात नहीं मिलती। किसी बात का कोई जवाब जो उपनिषदें देती हैं, वह घोर तिमिराच्छादित शब्दों में। इनके स्पष्टीकरण में लोग अपनी टाँग अड़ा देते हैं, यह सर्वथा अनुचित है।

हमारे प्रतिपक्षी यह शङ्का कर सकते हैं कि जब तुम धार्मिक अनेक सिद्धान्तों का यथावत् खण्डन नहीं कर सकते और संसार का विज्ञान-बल अभी तक कच्चा ही है, तो फिर हम उन पर विश्वास क्यों न कर लें। क्योंकि जनश्रुति, परम्परागत दन्तकथा और बहुत बड़ा लोकमत, और बहुकालव्यापी मनुष्य जाति के ज्ञान का भाण्डार, और धर्मजनित सन्तोष हमारे पक्ष में हैं। इसका उत्तर हम पहले यही देते हैं कि हमारी किसी पर ज़बरदस्ती नहीं है। हमें अधिकार है कि हम ऐसी बातों का आँख बन्द करके विश्वास कर लें अथवा बिल्कुल विश्वास न करें। हम तो इतना ही कहेंगे कि आप अपने को धोके में डाल कर, यह न समझ बैठें कि आपका यह तर्क आपको विशुद्ध निर्णय की ओर ले जा रहा है। अज्ञान, अज्ञान ही है, उसे किसी बात के मान लेने या विश्वास करने का अधिकार नहीं होता, यही कह सकते हैं कि यह बात अभी तक अनिश्चित है।

हमने देखा है कि लोग धर्म को नहीं मानते, पर अपने आपको और दूसरों को धोका देते रहते हैं कि हम धर्म के बड़े पक्के मानने वाले हैं। धर्म के मामले में हम मुक्त-कण्ठ से कह सकते हैं कि लोग बड़े ही कपटी, कुटिल और चतुराई से अनाचार करने वाले होते हैं। बड़े-बड़े पण्डित या दर्शनज्ञ शब्दों और वाक्यों का मनमाना अर्थ खींच-तान कर लगा लेते हैं। यहाँ तक कि मूल का नाम-निशान तक बाक़ी नहीं रहता।

ईश्वर का ऐसा अनिश्चित कल्पित अर्थ कर देते हैं, जो बुद्धि के बाहर होता है और ईश्वर-भक्त बन बैठते हैं। बहुतों को हमने द्रव्यगत गति शक्ति को ही ईश्वर कहते पाया है। यद्यपि इन नई कल्पनाओं से उस सर्व-शक्तिमान्, दयालु, न्यायकारी ईश्वर का पता ही नहीं रहता, जिसको धर्मों ने कल्पना की है। जो मनुष्य इस बहुत बड़े अज्ञेय विश्व में अपने को तुच्छ और सर्वथा निर्बल समझता है उसे लोग बड़ा धार्मिक मानते हैं, किन्तु यह तो धर्म के भाव के विधायक लक्षण नहीं हैं। धर्म तो वह है जो इसके विरुद्ध होकर इस भाव को हटाने का इलाज ढूँढ़े। क्योंकि सर्वशक्तिमान् ईश्वर तो सब जानता है। अच्छा उपासक धर्म के बल से इस अज्ञान को हटा सकता है, अगर वह ऐसा नहीं करता तो वह स्वयम् ईश्वर का इन्कारी है। यह तो नास्तिक भी कहता है कि मैंने प्रकृति के सारे भेद नहीं जान पाए और इस महान् विश्व में एक अकिञ्चन प्राणी हूँ। बात वास्तव में यह है कि ईश्वर और धर्म की कल्पना प्राचीन काल के कम ज्ञान वाले लोगों ने भय और अज्ञान के कारण की है। अपने लिए एक मिथ्या अवलम्ब स्थापित किया है और बाद में स्वार्थी लोगों ने अपना मतलब गाँठने के लिए उसे खूब दृढ़ किया और रंगा।

इन बातों को सुन कर हमारे बहुत से भोले भाई कह उठते हैं कि अगर धर्म और ईश्वर भ्रम है, तो आपकी और भी सामाजिक, नैतिक बातें भी भ्रमात्मक हैं। लेकिन यह अगर

वह क्रोध में कहते हैं तो हमारे पास कोई उत्तर नहीं है। अगर वह यह बात सच्चे मन से कहते हैं तो हमारा उत्तर सीधा और सरल है।

जिन बातों की सच्चाई को हम तर्क की कसौटियों द्वारा जाँच कर सकते हैं, अपने प्रत्यक्ष अनुभव से कार्य के फल को देख कर जान सकते हैं, उनमें और निराधार मन-कल्पित धर्म में बड़ा अन्तर है। हमें मनुष्यों की रक्षा के लिए या अपने ही देश की जनता की रक्षा के लिए संस्कृति की रक्षा की ज़रूरत है। समयानुसार इस संस्कृति में हेर-फेर भी होता रहता है, यहाँ कोई बात आँख बन्द करके मान लेने की नहीं होती, न तर्क-वितर्क या विरोध-समर्थन की रोक-थाम है। इसलिए हम संस्कृति को धर्म की तरह भ्रममूलक नहीं मान सकते।

अगर यह कहा जाय कि धर्म के सिद्धान्तों और परमात्मा के न्याय और सर्वशक्तिमत्ता में संसार के अधिकांश लोगों का आत्मविश्वास है, इसके हट जाने से लोग असामाजिकता के भावों से भर जायँगे, निडर और निस्सङ्कोच होकर मनमानी करने लग पड़ेंगे, तो सारा समाज खण्ड-खण्ड हो जायगा। हज़ारों वर्ष की बनी संस्था के टूट जाने से अनेक खराबियाँ फैलेंगी और सारी सभ्यता नष्ट हो जायगी; इसलिए अगर यह मालूम भी हो जाय कि धर्म में सच्चाई नहीं है, तो भी हमें यह बात दिल में ही रखनी चाहिए। धर्म और ईश्वर को

हटा कर तुम जनता की शान्ति और सन्तोष के लिए उन्हें दूसरी कौन सी चीज़ दे सकते हो ?

हमारा तो यह ख्याल है कि मिथ्या ईश्वर और धर्म की संस्थापना से लाभ के बदले हानि ही होती है। हम से पहले भी बहुत लोगों ने इस विषय पर लिखा है, किन्तु उससे कहीं की भी संस्कृति का मटियामेट नहीं हुआ। इस युग में अज्ञान का पर्दा फटने लगा है, लोग धर्म और ईश्वर का निर्मूल और भ्रमात्मक होना समझने लगे हैं। जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, पहले समय में, न अब, कोई इन पर पूरा विश्वास रखता है। लाखों या हज़ारों वर्ष से कल्पित धर्म और ईश्वर के बनावटी भय ने संसार पर शासन किया, उससे जो कुछ लाभ या हानि होनी थी, होली। अब तो हम देखते हैं कि मनुष्यों की बड़ी संख्या इस संस्कृति से, जो धर्म के आधार पर है, दुखी हो रही है और इस असह्य भार को अपने सर पर से उतार कर फेंक देना चाहती है। ये लोग अब अपनी सहज समझ के ऊपर बन्धन रखना नापसन्द करते हैं और इस संस्कृति से सम्बन्ध-विच्छेद करना चाहते हैं। हमारे विरोधी कह सकते हैं कि विज्ञान-विज्ञान की पुकार से और विज्ञान की क्रमशः असफलता से समाज की यह दशा हुई जो बहुत शोकजनक है। लेकिन हम तो देखते हैं कि जब धर्म का पूरा आतङ्क था, जब धर्म-याजक ही शासन करते थे, तब लोग अधिक दुखी थे, आज-कल धर्म का फन्दा ढीला पड़ने से लोग खुले में साँस

लेने लगे हैं और अपने को सौभाग्यशाली समझते हैं। पुरोहित लोग भी संसार की प्रगति देख कर धर्म के ढकोसले की कड़ाई को ढीला करने पर मजबूर हो गए हैं। इसके प्रमाण हिन्दू, मुसलमान, ईसाई आदि सभी धर्मों में पाए जाते हैं। हमने यहाँ उदाहरणों से अपने छोटे से लेख को बढ़ाना उचित नहीं समझा। प्रायश्चित्त, कफ़्फ़ारा और पीनेन्स का अर्थ ही है बन्धन का ढीला करना या मूर्खों से माल एँठना। कुछ भी हो, पर धर्म का बन्धन ढीला ज़रूर हुआ और होता जा रहा है।

ईसाइयों में एक सम्प्रदाय है, जो सम्भवतः रूस में अधिक पाया जाता है। यह समझता है कि पाप करना बहुत ज़रूरी है, क्योंकि बिना इसके ईश्वर की पूरी दया, आशीर्वाद और क्षमा का उपभोग असम्भव है। मुसलमानों का ख़ुदा भी बड़ा मुआफ़ करनेवाला है। हिन्दू तो मिनट-मिनट पर अपने पूर्वकृत अपराधों को धोकर बहा सकते हैं। इसलिए ईश्वर और धर्म से बुराइयों की रोक-थाम नहीं हुई, न हो सकती है। ऐसे आदमी बहुत हैं, जो बुराई करने से ईश्वर को तभी तक डरते हैं जबतक उन्हें कोई देखता हो। अगर कोई आदमी न देखता हो, तो ईश्वर को ताक पर रख कर सब कुछ कर सकते हैं। इसलिए समाज ईश्वर से बहुत बड़ी चीज़ है। हम तो रात-दिन पादड़ी साहब, मौलवी साहब और पण्डित महोदय को यही पुकारते सुनते हैं कि अब धर्म का ह्रास हो रहा है, लोगों में से ईश्वर का डर कम होता जाता है, धर्म-कार्यों के लिए

रुपया नहीं मिलता, चढ़ावा कम आता है, कथा और मालूद में पहले की सी भीड़ें नहीं होतीं।

ज्ञातव्य यह है कि ज्यों-ज्यों विद्या-बुद्धि बढ़ती जाती है, विद्या सुलभ होने के कारण अधिक आदमियों में फैलती जाती है, त्यों-त्यों ईश्वर का डेरा दूर हटता जाता है। अब बेचारा रोग-शय्या पर पड़ा अपने जीवन की घड़ियाँ गिन रहा है। लेकिन यह तो हँसी मात्र है। न ईश्वर कभी था, न है, न हो सकता है।

हमारा दृढ़ विश्वास है कि जब लोग यह समझ लेंगे कि समाज के नियमों को तोड़ने से उनकी भी हानि है, अगर हम किसीको मार डालेंगे तो उसके परिवार के लोग हमें मार डालेंगे, तो समाज में मार-काट सर्वत्र फैल कर मनुष्य का सामाजिक जीवन दूभर कर देगी। यह ज्ञान मनुष्य को बुराई से रोकता है और ज्यों-ज्यों ज्ञान बढ़ेगा त्यों-त्यों अधिक रोकेगा। ईश्वरीय भय का पता उपासरों, ख़ानकाहों, ननेरीज़, मन्दिर, मस्जिद और गिर्जों में कुछ दिन रह कर देखो तो ठीक-ठीक मिल जायगा। अगर कहोगे कि किसीकी हत्या मत करो, इससे ईश्वर अप्रसन्न होगा और इस लोक और परलोक में तुम्हें दण्ड मिलेगा, तो तुम्हारी कोई न सुनेगा और न अब सुनता है।

'हमको मालूम है, जन्नत की हक़ीक़त, लेकिन—दिल के ख़ुश रखने को 'ग़ालिब' यह ख़्याल अच्छा है।'

—महाकवि ग़ालिब

इसलिये अशिक्षित जन-समूह को चाहे ज्ञानवान् और समझदार बना कर बुराइयों से रोकें, चाहे लट्ठ के बल उन्हें पशुओं की तरह हाँकते रहें, ईश्वर और धर्म से कुछ होना-जाना नहीं है।

हम मानते हैं कि जनता को शिक्षित बनाने का काम एक तो श्रम-साध्य है, दूसरे धन-पात्र, धर्मयाजक और सरकार इन्हें वास्तविक सज्ञान प्राणी बनाना नहीं चाहती, नहीं तो हमारे सामने रूस है, जिसे हम हूस कहा करते थे। रूस में १९१७ के पहले शिक्षितों की संख्या भारत से भी कम थी। आज शिक्षितों की संख्या वहाँ संसार के सब बड़े देशों से अधिक है।

अगर आज हम न्यायालयों को हटा दें तो मालूम हो जाय कि ईश्वर और धर्म मनुष्य-समाज की कितनी रक्षा करते हैं। आज भी ज्ञान-वृद्धि होने पर लोग अपनी वासनाओं और इच्छाओं के ऐसे दास हो गये हैं कि समाज के नियमों को तोड़े बगैर नहीं रहते; तो पिछले समय के कम ज्ञान वाले लोग ज़्यादा उद्दण्ड और प्रचण्ड होंगे, इसमें सन्देह नहीं। इन्हें सदा संस्कृति के नियमों को पालन करने के लिए दण्ड बाध्य करता रहा है, न कि कल्पित ईश्वर और निर्मूल धर्म? बालक हौवा से डर जाता है, लेकिन जवान होने पर वह उसकी शक्ति को समझ जाता है। लड़कियाँ गुड़िया खेल सकती हैं,

अब लड़कियाँ गुड़ियों का खेल नहीं पसन्द करतीं। अब संसार में ईश्वर और धर्म का तमाशा बहुत दिन नहीं टिक सकता।

कल मुझसे एक लड़के ने प्रश्न किया 'आपकी बात सत्य होने पर भी यदि कोई व्यक्ति ईश्वर और धर्म को माने तो आपकी इससे क्या हानि?' मैंने हँस कर कहा कि मेरे वैयक्तिक हानि का प्रश्न नहीं है, न मैं किसी पर दवाव डालता हूँ कि मेरी बात मान ही ले। यहाँ वात है समाज के हानि-लाभ की, उन्हीं लोगों को इससे हानि पहुँचती है जो इस भ्रम में पड़े हैं। बात को बिना समझे मान लेने और उसके अनुकूल चलने में ज्ञान की वृद्धि रुकती है। ईश्वर और धर्म के नाम से जो समय नष्ट किया जाता है वह समाज-सेवा में लगाया जा सकता है। झूठे भय से काम करने की अपेक्षा सच्चे भय और भाव से काम करना अधिक अच्छा और पवित्र है। समाज को सुसङ्गठित और शृङ्खलित रखने के लिए, हमें समाज के नियमों को ज्ञान के आधार पर मानना उचित है और कल्पित ईश्वर के भय से डरना बच्चों की तरह 'झोली वाले बावाजी' से डरना है। एक ज्ञान की जागृतावस्था है और दूसरी अज्ञान की निद्रित परिस्थिति है। जो लोग ईश्वर और धर्म पर विश्वास न रख कर अपने मतलब के लिए रात-दिन झूठ बोलते हैं, ठगी करते हैं, आदमी की दृष्टि बचाकर किसी भी समाज-द्रोही काम को कर लेते हैं, वे दूसरों को ईश्वर और धर्म का भय दिखाते फिरते हैं, यह क्या प्रत्यक्ष जनता को धोखा देना नहीं

है ? यह कहना ग़लत है कि लोगों के जी से ईश्वर का भय निकाल देना, समाज को नष्ट-भ्रष्ट कर डालेगा । ऐसा ही फ़्रान्स के विद्वान् वाल्टेयर ने भी कहा था कि 'अगर ईश्वर न हो तो हम एक ईश्वर की कल्पना करके रक्खेंगे । क्योंकि साधारण जन-समूहों को ईश्वर की ज़रूरत है । लेकिन इसका ठीक उत्तर एक रूसी विद्वान् 'मिकाईल वेकुनिन' ने यह दिया कि 'अगर ईश्वर हो भी तो हम उसे अर्द्धचन्द्र देकर निकाल बाहर करेंगे, क्योंकि वह बुराइयों की जड़ है ।' इस विवाद को हम अच्छी तरह समझ लें तो कूटनीति के आसरे हमें ईश्वर को बनाए रखने की हानि और सचाई के निमित्त उसके हटा देने के लाभ विस्पष्ट हो जाएँगे, इसमें सन्देह नहीं । कल्पित ईश्वर ने चाहे सहस्रों वर्ष पहले जङ्गली लोगों को कितना भी लाभ पहुँचाया हो, परन्तु आज तो हमें उससे हानि ही हानि नज़र आती है ।

हमारा विपक्षी कहता है कि 'आप तो ऐसी वदतो-व्याघात-पूर्ण बातें कहते हैं, जिनमें परस्पर सामञ्जस्य नहीं दीखता । एक ओर तो आप कहते हैं कि मनुष्य अपनी सहज समझ और वासनाओं से प्रेरित और शासित होता है, उन्हीं के अनुसार चलता है, बुद्धि और ज्ञान का अनुमान करना कम पसन्द करता है, दूसरी ओर यह भी कहते जाते हैं कि बुद्धि और ज्ञान के आधार पर संस्कृति की रक्षा करते रहो, उसका साथ देते रहो । आपको यह भी याद रखना चाहिए कि फ़्रान्स की

फ्रान्स में धर्म को हटा दिया गया था, पर यह बात चल न सकी। अब रूस ने धर्म का पूरा बहिष्कार किया है, देखें यह बहिष्कार कितने दिन चलता है। सच तो यह है कि मनुष्य धर्म बिना जी नहीं सकता। आप कहते हैं कि धर्म एक रोग है जो मनुष्य की नाड़ियों को बेकार कर डालता है, और वह मनुष्य के भीतर घुस बैठा है, इस रोग के हटाने में ही भलाई है। लेकिन आपने यह नहीं सोचा कि इस रोग को दूर कर देने से और कौन-कौन से घातक रोग मनुष्य में घुस बैठेंगे।'

कुछ लोग ऐसे हैं, जिन्हें धर्म के साथ ऐसा प्रगाढ़ प्रेम है, जैसे नशेबाज़ को नशे के साथ। यह लोग धर्म को नहीं छोड़ सकते। इन्हें चाहे जितना समझावें यह न समझेंगे, लेकिन अधिकांश लोग ऐसे हैं जो धर्म के पीछे इतने दीवाने नहीं हैं। यह लोग सामाजिक नियमों को अर्थात् संस्कृति के नियमों को इसीलिए नहीं तोड़ते कि धर्म उन्हें धमकी देता रहता है, रिश्वत का लालच दिखाता रहता है और बहलाता रहता है। वह लोग धर्म की उसी समय तक परवा करते हैं, जबतक वह समझते हैं कि सचमुच कोई बाधा देने वाली वस्तु धर्म है। जहाँ धर्म की सत्यता को स्वीकार करने से उनका दिल हटा कि वह बाग़ी हो जाते हैं। यह फिर धर्म की परवा नहीं करते, न इन पर किसी तर्क-वितर्क का प्रभाव पड़ता है। इनके हृदयों से धर्म का भय उठ जाता है,

क्योंकि यह देखते हैं कि दूसरे लोग भी धर्म को नहीं डरते। इस तरह धीरे-धीरे धर्म का बनावटी डर उठता जाता है, चाहे हम धर्म और ईश्वर के विरुद्ध कुछ लिखें या न लिखें।

पुन, निस्सन्देह लोग तर्कों और युक्तियों की बहुत कम परवा करते हैं, अपनी स्वाभाविक समझ के नितान्त वशवर्ती होते हैं, उसीके अनुसार जो इच्छा उत्पन्न होती है, उसीको पूरा करने में दत्तचित्त हो जाते हैं। लेकिन क्या धर्म के पक्षपातियों ने कभी अपने दिल से यह पूछा है कि क्या मनुष्य का ऐसा होना अच्छा है? क्या उनकी अन्तरात्मा को ऐसी ज़रूरत भान होती है कि वह धोखे में कम से कम जब तक रह सकें, रहें? सामाजिक जीव 'मनुष्य' के स्वभावों और विकाश के इतिहास आदि विषयों का ज्ञाता पण्डित क्या आपको ऐसे मनुष्य के मस्तिष्क को आवृत्त करनेवाली हड्डी की दशा बता सकता है, जिसकी शिराओं को बाल्यकाल से ही कड़ी पट्टी बाँध कर ख़राब कर दिया गया हो। जो लोग हाथों में फँसे हुए गहने पहने रहते हैं, क्या उनकी नाड़ी का ठीक पता वैद्य को मिल सकता है? ज़रा निर्भय, निश्चल, चमकते हुए, स्वस्थ चेहरे वाले बालक की तीव्र बुद्धि का और नवजवान की कमज़ोर समझ का मुक़ाबला करो और समझो, तो तुमको मालूम होगा कि इस बुराई के भीतर एक प्रधान कारण धर्म भी है। होश सँभालते ही बच्चे के लिए 'ईश्वर' नाम के दूसरे हौवे का डर खड़ा कर दिया जाता है। उसके हृदय में दूसरे लोक, नरक

और स्वर्ग की चिन्ता पैदा करके उसका दिमाग़ ख़राब कर दिया जाता है। बड़े होने पर आदमी के सिर में बाप-दादों के ढङ्ग, भाव, विचार आप ही घुस-बैठते हैं, लेकिन हमारे भोले भाई उस समय तक ठहरना नहीं चाहते। बाल्यकाल से सन्तान के सर में धर्म, ईश्वर, और परलोक को ठूँसना आरम्भ कर देते हैं, जब कि न उसमें इन बातों के समझने की बुद्धि होती है और न उसका इनमें जी ही लगता है। बच्चों में लैङ्गिक (Sexnal) समुन्नति का रोकना और बहुत जल्द धर्म का रोगी बना डालना, आजकल लोग शिक्षा का सार समझते हैं। बच्चों में स्वतन्त्र विचार की शक्ति की वृद्धि को रोकना और मानसिक शक्ति में धर्म-रूपी घुन लगा देना, कोई चतुराई की बात नहीं है। नरक की धमकी से बच्चे के कलेजे को कमज़ोर बना देना हितैषी माता-पिता का काम नहीं है, यह तो एक प्रकार की शत्रुता है, मनुष्य जीवन की उन्नति को रोकना है। जिस धर्म में जितनी अधिक कट्टरता होती है उस धर्म में उतने ही अधिक मूर्ख होते हैं। एशिया में ख़ासकर निकट पूर्व के देशों में धार्मिक कट्टरता के कारण विज्ञान-वेत्ताओं और वैज्ञानिक आविष्कर्ताओं का कहीं पता नहीं है। भारत में ही हम देखते हैं कि धर्म की कट्टरता हिन्दुओं की अपेक्षा मुसलमानों में ज़्यादा है, इसलिए मुसलमानों में हिन्दुओं से कहीं अधिक मूर्खता पाई जाती है। हिन्दुओं में चाहे वैज्ञानिक आविष्कार करने वाले मिलें, पर मुसलमानों

में ढूँढने से नहीं निकलेंगे। यह प्रत्यक्ष प्रमाण इस बात का है कि मनुष्य अपने को धार्मिक कट्टरता से मूर्ख बना डालता है, अन्ध-विश्वासी कर लेता है और किसी भी सच्ची खोज के लायक़ नहीं रखता। राजनीतिक-जगत् जानता है कि हिन्दुस्तान की स्वतन्त्रता प्राप्त करने के बदले मुसलमानों ने इसकी ग़ुलामी को स्थिर रखने में अधिक परिश्रम किया है। इसका कारण धार्मिक कट्टरता या धर्मान्धता का आधिक्य ही है। मिस्र और टर्की में धर्मान्धता के विनाश के साथ-साथ उनका उत्थान हुआ है, भारत में धर्मान्धता के साथ-साथ हमारा पतन होता जा रहा है। फिर भी ऐसे बुद्धि-भाण्डागारों की कमी नहीं है, जो कहते हैं कि हमें क़ुरान और वेद में शान्ति मिलती है।

यदि मनुष्य बाल्यकाल से ही आँखें और कान बन्द करके धार्मिक बेहूदगियों को अपने सर में कूट-कूटकर भरता रहा, धार्मिक पुस्तकों के प्रत्यक्ष वदतोव्याघातों को नहीं देख सका; उसका मनुष्यत्व से गिर जाना स्वाभाविक है। पशु-बुद्धि को समाज के हित के लिए उच्छृङ्खल न होने देने का काम ज्ञान का है, ज्ञान के सर पर जब आरम्भ से ही कुठाराघात होने लगे तो बेचारे ज्ञान का प्राण हमारे घर में कैसे बच सकता है? हमारे देश में ऐसे पापिष्ठ हृदयों की कमी नहीं है जो देश के ९० प्रति सौ भूखे मरतों की चिन्ता से एक क्षण भी व्यथित नहीं होते, किन्तु परलोक की चिन्ता में सारा जीवन नष्ट कर डालते हैं।

जिस देश में अन्धे ही बसते हों, उस देश में निश्चय ही काने की महिमा आँखों से अधिक होगी। यहाँ बेचारा ज्ञान कैसे ठहर सकता है? 'धोबी बस कर क्या करे, दिकम्बर के ग्राम'।

लोग स्त्रियों को 'नाकिसुल-अक़्ल' कहते हैं, कहीं-कहीं भले आदमियों ने तो उनके सर बहुत से स्वाभाविक दोष मढ़ दिए हैं। एक ज्ञान-राशि हिन्दू तो कहता है 'ढोल गँवार शूद्र पशु नारी'। जैन हज़रत फ़रमाते हैं कि स्त्रियों की मुक्ति ही नहीं होती और यहूदियों में तो प्रार्थना की जाती है, 'हे प्रभो, आपने बड़ी कृपा की, हमें स्त्री नहीं बनाया।' क्या यह सब बेहूदगियाँ हमें धर्म को धिक्कारने की ओर प्रवृत्त नहीं करतीं? हम स्त्रियों के सम्बन्ध में अनेक निबन्ध अनेक मासिक पत्रिकाओं में लिख चुके हैं और एक स्वतन्त्र पुस्तक के लिखने का विचार है, जिनमें स्त्रियों पर पुरुषों के दीर्घकाल व्यापी अत्याचार को ऐतिहासिक प्रमाण के साथ दिखाया जाय, पर यह सब जीवन और स्वास्थ्य के हाथ की बात है। अस्तु, हम यहाँ स्त्रियों के पक्ष में लिख कर विषयान्तरित नहीं होना चाहते; पर इतना हम ज़रूर कहेंगे कि स्त्रियों की निर्बलता और मूर्खता के ज़िम्मेदार पुरुष हैं, स्त्रियाँ पुरुषों से अधिक मूर्ख हैं, इसीलिए धार्मिक ठगों के हाथों यह अधिक ठगी जाती हैं। मेरे प्राणप्यारे धर्मान्धताग्रस्त मनुष्य भाइयो! एक बार धर्म को और ईश्वर को २५ वर्ष के लिए त्याग कर देखो; अगर आप अच्छे न बनें

तो फिर इन्हीं ख़याली पुलाव के पकाने में लग जाना। अगर आज आप नहीं छोड़ते तो आपकी आगे आनेवाली आपसे अधिक चतुर सन्तति इन ढकोसलों को निस्सन्देह समाज से बहिष्कृत करेगी। आजकल पुरोहिती-ठगी पहले की तरह नहीं चलती, यह प्रमाण है हमारी भविष्यद्वाणी के सिद्ध होने का।

अफ़ीमची की अफ़ीम छुड़ाना कठिन है, इसे मैं समझता हूँ, किन्तु वह स्वयं चाहे तो धीरे-धीरे छोड़ सकता है। एकदम अगर किसी का दुर्गुण छुड़ाया जाता है तो वह दुराचारी छिप कर अपनी दुर्वासना को पूरी करने लगता है, जैसा कि रूस में देखते हैं। अनेक मूर्ख घरों में छिप-छिप कर नमाज़ों में अपना समय ख़राब किया करते हैं।

ईश्वर और धर्म के ढकोसले को छोड़ने के बाद हम सच्ची अवस्था में आजाते हैं, हम निर्बलता को समझ कर उसके दूर करने के लिए अपने हाथ-पैरों का हिलाना सीखते हैं। सन्ध्या, पूजा, व्रत और नमाज़ के ज़ोर से अपने दुखों को मिटाने की बेहूदा हरकत छोड़ देते हैं। हम समझने लगते हैं कि मैं अनुपचार, विवश और तुच्छ प्राणी हूँ। प्रकृति का ज्ञान अथाह है, लेकिन उससे कोई ईश्वर या धर्म मेरी मदद और रक्षा नहीं कर सकता, इसलिए मैं स्वयम् अपनी रक्षा का उपाय सोचूं, अपने हित के लिए काम करूँ।

पश्चिम के जितने आविष्कर्ता हुए हैं, उन्होंने चाहे ईश्वर का खण्डन न किया हो, पर यह ज़रूर है कि उन्होंने नमाज़ पढ़ते हुए कोई आविष्कार नहीं किया ; बल्कि अनेक आविष्कार करनेवाले वैज्ञानिकों को नमाज़ पढ़नेवालों ने सताया ज़रूर है। जब कोई नवयुवक घर छोड़ कर निकल जाता है और उसके सामने कोई शरण-स्थल नहीं रहता तब वह श्रमशील और काम का आदमी जल्दी बनता है। आदमी सदा बालक नहीं रह सकता। वह सच्चे ज्ञान की प्राप्ति से श्रमशील, स्वतन्त्र जवान बनता जा रहा है, उसकी इस उन्नति और इस उत्कर्ष में बाधा डालना अपने पैरों आप कुल्हाड़ी मारना है।

भाग्य एक और नई वस्तु है। इससे आदमी निकम्मा और आलसी हो जाता है। वह लगातार अदृश्य शक्ति का ही आश्रय ढूँढ़ने लगता है। किसी भी घटना का, अच्छी हो या बुरी, कारण नहीं ढूँढ़ता। भाग्य पर भरोसा करके बैठ जाता है। अगर आदमी सावधान हो जायगा तो अपने लिए और समाज के लिए हितकारी कामों के करने में दत्तचित्त रहेगा। स्वर्ग और ईश्वर के भूत को जिन, फ़रिश्ते, यक्ष आदि के लिए छोड़ कर आप अपनी पृथ्वी पर ही अपना स्वर्ग बनाने में लग जायगा। ईश्वर, धर्म और भाग्य का वशीभूत न रहेगा।

सर्वम् परवशं दुखम् सर्वम् आत्मवशं सुखम्

यह लेख अक्तूबर १९३२ में भविष्य के जुबली अंक में प्रकाशित हुआ था।

सत्यं धर्म सनातनः

(१)
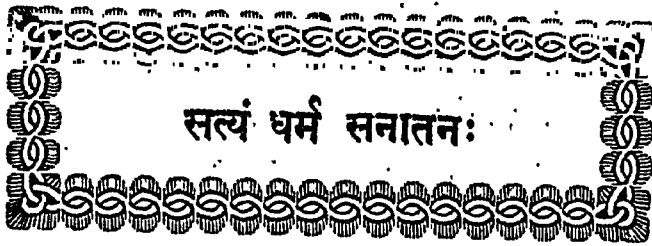
क्या यह सत्य है कि सत्य ही सनातन धर्म है ? वृक्षों से समुन्नत होकर मनुष्य बनने तक तो हमें इतना समय लगा होगा जिसका हिसाब लगाना किसी भी विकाशवादी के लिये अभी सम्भव नहीं प्रतीत होता। दादा डर्विनकी ही बात पर विचार करें तो वानर से नर और वानरी से नारी बनने में पूँछ घिस कर लूमस्थल सपाट होने में ही कोट्यानुकोटि वर्ष लग गये होंगे। इस बीच में इन बापुरे प्राणियों को अपनी आवश्यकता-पूर्ति में, अपनी वासनाओं की संतृप्ति में, अपनी भूख-प्यास विदूरित करने की फिक्र में जिस मस्तिष्क की ज़रूरत पड़ी होगी उसकी उन्नति और अभिवृद्धि में न जाने कितना कष्ट उठाना पड़ा होगा। कौन कह सकता है कि वानर योनि में आने के बाद कितने दिनों में बेचारे ने अपने हाथों को चलने के काम से छुट्टी देकर पैरों के बल खड़े-खड़े चलना सीखा होगा। फिर उसके कितने दिन बाद उसके नन्हें से

दिमाग़ में इतनी जगह हुई होगी कि जिसमें तर्क और ज्ञान के प्रकाश का समावेश हो, जिससे वह बेचारा सत्यासत्य का निर्णय कर सके। भूल, भय, मूर्खता, अज्ञान, आलस्य, अविद्या सदृश अनेक बाधायें भी थीं जिन्होंने सज्ञान होने पर भी प्राणियों को सत्य की खोज में उतने ज़ोर से अग्रसर नहीं होने दिया जितनी ज़ोर से कि वह होना चाहता था।

और आगे चलकर देखते हैं तो इतिहास साक्षी देता है कि अनेकानेक ठोकरें खाने पर जब हम प्रकाश के समीप आ गए और सत्य घटनाओं के आधार को सीधी, सच्ची और पक्की सड़क जानकर उस पर चलने लगे तो हममें ही अगणित वंचक उत्पन्न हो उठे। आआकर अवतारों, नबियों, ज्योतिषियों, पंडितों, पुरोहितों, मौलाना, मुल्लाओं ने हमें धोका दिया, अवनति की ओर पैर पकड़कर घसीटा; राजाओं, सरदारों, हाकिमों, ज़मीदारों और साहूकारों ने अपनी अवधूती चाल चलकर जनता को वश पड़ते ख़ूब मिट्टी में मिलाया, आजकल इन अवरोधक मशीनों में एक छल पूर्ण लीडरशाही और बढ़ गई है। फिर भी हम देखते हैं कि हम वन्दरों के वे दुम बच्चों में सचाई की तलाश घटती नहीं वरन् बढ़ती ही जा रही है। इसीसे मैं समझता हूँ कि सत्य की खोज मनुष्य का स्वाभाविक धर्म है। यह बिलकुल ठीक है कि 'सत्यम् धर्म्म सनातनः।'

प्रिय वाचक वृन्द, पहले पुरोहित कुलोद्भव पंडित राजों ने, जिनमें बुद्धि और तर्क व दर्शन ज्ञान से दबे हुए कितने ही एम० ए० बी० ए० भी शामिल हैं, मेरे एक लेख पर हज़ारों ही बेतुकी गढगढकर सुनाई हैं। लेकिन एक ने भी प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाण न दिया कि जिसमें ईश्वर संसार के भावी समझदारों के लिये कोई वास्तविक पदार्थ सिद्ध हो जाता। इसी प्रकार मुझे आशा है कि सैकड़ों दावे वे दलील मेरी 'सत्यकी व्याख्या' पर होंगे। इन पाण्डित्याभिमानियोंको यह पता नहीं लगता कि संसार बदल रहा है। आज ऐसा कोई भी समझदार नहीं जो डेढ़ हज़ार, ढाई हज़ार, पाँच, सात, दश हज़ार वर्ष की पुरानी पुस्तकों की जंगली कहानियों और निर्मूल गपोड़ों में संतोष प्राप्त कर सके। कोरे महात्माओं को चाहे कुरान में शान्ति मिलती हो चाहे बाइबिल में, चाहे पौराणिक गाथाओं में लेकिन सांसारिक जीवों को तो विज्ञान की कसौटी पर कसे हुए, तर्ककी आँच पर तपाये हुए सत्य में ही शान्ति की झलक दिखाई देती है। बुद्धदेव ने ठीक कहा है कि सत्य ही सब कुछ है। सत्य की ही खोज में फिरना मानव जीवन का एक सर्वोत्कृष्ट ध्येय होना चाहिए। एक अँग्रेज़ विद्वान् 'एडीसन' भी, इसी का समर्थन करता है—There is nothing so laudable as to hanker after truth. पण्डित शिरोमणि कन्हैयालाल अलखधारी ने सत्य की महिमा अपने 'सच्चे स्नान' नामक ट्रेक्ट में लिख कर हमें सावधान किया

है कि 'सत्यमेव जयति नानृतम्' सत्य है। सत्य की व्याख्या में 'मनुदेव' से लेकर आजतक हिन्दू जगत में होने वाले विद्वानों ने बहुत कुछ कहा है, लेकिन 'बेबिल' ने अपनी सत्य की व्याख्या में कमाल कर दिया, कलम तोड़ दिया, पाखण्डियों का मुँह मरोड़ दिया, मानव जगत् में सत्य का वास्तविक रूप चित्रित करके दिखा दिया है।

क्या इस भ्रममय और घोर तमाच्छादित जीवन में आलोकप्रद सत्य के समान और महत्व वाली लाभदायक बड़ी बात हो सकती है? मैं तो यही कहूँगा—नहीं। सत्य जगत् का ज्ञान धन है, उसे डूबने से बचानेवाली नाव है, उसे अन्धकार से निकालनेवाला प्रकाश है। सत्य की खोज में व्यस्त होने के बराबर दूसरा कोई व्यापार या व्यवसाय हो नहीं सकता।

सत्य उन्नति की जड़, काण्ड, शाखा और पत्ती सब कुछ है। आनन्द की जननी और जनक सचाई ही है। सत्य मन को शुद्ध करता है, विचार को पवित्र करता है, आकांक्षाओं और आदर्शों को उच्च बनाता है। सत्य का नाम सभ्यता, मनुष्य-भक्ति और दयालुता है। सत्य के जानने की महत्वाकांक्षा के बराबर क्या कोई दूसरी आकांक्षा हो सकती है? सत्य से हमें शक्ति मिलती है। सत्य ढाल और तलवार दोनों का एक साथ काम देता है। सत्य गुरु, मित्र, पुत्र और सहायक सब कुछ है। यह तो जीवन-ज्योति है।

जो एक सत्य बात खोज निकालता है वह ऋषि है, उसका यह खोज-वृत्तान्त वेद है, उसके जलाये हुए प्रदीप के प्रकाश से संसार को उजाला मिलता है। लेकिन सत्य मिलता कैसे है? खोज, अनुभव और शुद्ध तर्क से, निष्पक्ष अन्वेषण, स्वतन्त्र विचार वाले दिमाग़ की लगन से। प्रत्येक नर-नारी को स्वतन्त्र खोज का पूरा अधिकार है। चाहे जितनी खोज करे, बने जितनी करे, उसके इस नैसर्गिक अधिकार में जो बाधा डालता है वही पापी है, दुष्ट है, अत्याचारी है, मानव संसार का चिर शत्रु है। संसार के साहित्य पर मुहर लगाकर रखना नीचता है। भू-मण्डल का साहित्य-द्वार हर एक के लिए खुला होना चाहिए, छिपाना, बन्द करना, लट्ठके बल से रोकना अच्छा नहीं। मनुष्य के ही लिये सारे पवित्र विचार हैं। किसी विषय को छिपाकर रखना उस विषय की पवित्रता और महिमाको बढ़ाता नहीं वरन् नष्ट कर डालता है। हममें से प्रत्येक अपने शुद्ध सच्चे भावों को कह सके, अपने तर्क से काम ले सके, यही ठीक मनुष्योचित्त बात और व्यापार है।

जो अन्वेषकको, किसी भी सत्य के ढूँढ़नेवाले को, गुप्त ज्ञान के प्रकाशक को इस लोक या परलोक के दण्ड का भय देता है, वह मनुष्य-जाति का शत्रु है। वह दगाबाज़ है जो परलोक या आक़बत में आनन्द-भोग का प्रलोभन देकर सत्य पर पर्दा डालता है, अन्वेषक का मुँह बन्द करता है। क्या उत्कोच द्वारा सत्य का प्रकाश न होने देना पाप नहीं है?

प्राणियों का जिससे वर्तमान या भविष्यत् में अहित होता है वही पाप है। बिना विचार-स्वातन्त्र्य खोज असम्भव है। राजा और धर्म का भय बाधक है। खोज बुद्धि और तर्क के आधार पर होती है, अन्धपरम्परा के भरोसे सत्य की खोज होना सर्वथा असम्भव है। सत्य के जिज्ञासुओं, अन्वेषकों को या खोज की चाह रखनेवालों को चाहिए कि भय को छोड़ दें, अपने भीतरी प्रकाश से काम लें, भीतर बाहर सच्चे हों, अपने मन की प्रयोगशाला में अकेले बैठकर, संसार के सिद्धान्तों को, वादों को इति-वृत्तियों के आधार पर विश्लेषण संश्लेषण पूर्वक ख़ूब छानें। धर्म, राजा और पुरोहित सबका भय छोड़ कर अपने श्रम से प्राप्त फल को जैसा का तैसा संसार के सामने रख दें। यही स्वतन्त्रता है, यही पुण्य है, यही कर्तव्य है, यही मानसिक पवित्रता है। देव, देवी, राजा, गुरु, पुरोहित, धर्म और ईश्वर किसीके भय से सत्य का छिपाना पाप है। किसीके कहने से अपने तर्क, युक्ति, ज्ञानानुमोदित बात को क्यों छिपावें ?

ज़ब वह जमाले दिल फरोज़, सूरते मेहर नीम रोज़।
आप ही हो नज़ारा सोज़, पर्दे में मुँह छिपाये क्यों॥

हाँ, हमारी खोज में लगाव, झुकाव न हो; आत्मान्वेषित शुद्ध सत्य की खोज की रक्षा करने की हिम्मत हाथ से न जावे; प्रेम, भक्ति, ईर्ष्या, द्वेष, भय, दोस्ती, दुश्मनी हमारे विचार में खलल न डालने पावें। हमें तो सचाई की तलाश है और

बस—और कुछ नहीं। हममें से हरएक का स्वत्व और दायित्व सत्य की खोज है। हम जानते हैं कि सत्य से हानि नहीं हो सकती, हानि होती है भूल से, असत्य से। सत्य का खोजने वाला बड़े-बड़े नामों, बड़े-बड़े ग्रंथों के प्रमाणों, रीतियों और रिवाजों की कुछ परवा नहीं करता, जब तक कि उसका विवेक परवा करने को बाध्य न करे। अन्वेषक अपने हृदय का एक मुखी राजा है, पर अत्याचारी नहीं। इसके राज्य में छल, भय और धींगा-धींगी को कदापि बसने की आज्ञा नहीं होती।

सत्य सत्य ही है, बात नई हो या पुरानी, नर की हो या नारी की, बूढ़े की हो या बालक की, पंडित की हो या मूर्ख की, जिन्दे की हो या संसारपरित्यक्त की। हम पुराने आदमियों, प्राचीन ग्रन्थों की झूठी, बेहूदी बात इसलिए सत्य नहीं मान सकते कि उन्हें अमुक महा लेखक ने लिखी है, अमुक प्राचीन ग्रन्थ में लिखी हैं। न हम किसी नवजवान या बालक की और न नवीन ग्रन्थ की सत्य बात को इसलिए ठुकरा सकते हैं कि उसे एक नवयुवक या बालक ने कहा है, कि वह किसी आधुनिक ग्रन्थ में लिखी हुई है। प्राकृतिक सौन्दर्य को किसी तरह गहने-कपड़े आदि सजावट की ज़रूरत नहीं होती, जैसे लाल गूदड़ों में भी चमकता रहता है, उसी तरह सत्य को बनाव, चुनाव, साज-शृङ्गार की आवश्यकता नहीं। झूठ, छल या पाप व कायरता को ही ख्याति, उच्चस्थान, उत्तम वेशभूषा और और छत्र दण्डादि की ज़रूरत हुआ करती है। हम तो सत्य-

ग्राही हैं। हमें इस बात की परवा नहीं कि दादाओं का क्या मत था, हम किस सम्प्रदाय या समुदाय के हैं, किसका क्या कथन है, क्या सिद्धान्त है। जो कुछ भी हो, सत्य है तो शिरोधार्य्य, असत्य है तो बहिष्कार्य। न किसीको करनी चाहिए और न कोई समझदार, चतुर, प्रतिभावान्, सच्चा कभी बहुमत और अल्पमत की परवा करता है। उसे तो सत्य से काम रहता है। वह जानता है कि बहुमत सदा मूर्खों का ही बना होता है। बिना विचार किये ही हाथ उठानेवालों का समुदाय प्रायः बहुमत बनाया करता है। यह सत्य के ग्रहण करने और असत्य के परित्याग को सदा तैयार बैठा रहता है, यदि सावधान किया जाय। इतिहासों के पढ़ने से क्या लाभ ? यही तो कि विगत-इतिहास को पढ़कर उन भूलों से बचें जिनमें पड़कर अन्य जातियों ने हानि उठाई अर्थात् भूलों को हटाने और सत्य की स्थापना करने की इच्छा ही इतिहास-पाठ की ओर हमें प्रवृत्त करती है।

ज्योतिष, आयुर्वेद, खगोल, भूगोल, भूगर्भ इत्यादि-इत्यादि जितनी भी विद्यायें या विज्ञान हैं सब किसी सच्ची बात की खोज करते हैं। यहाँ तक कि गप्प प्रधान कविता भी अपनी तह में किसी सचाई की तरफ़ इशारा करने का दावा करती है। लेकिन सत्य के अन्वेषी को इस गप्प कविता की ज़रूरत नहीं; वह न्यारियों की तरह कुपदार्थों को अलग फेंक देता है। रसायनिक अपनी प्रयोगशाला में बैठा-बैठा प्रकृति के गुप्त

भाण्डार की खोज करके सच्चे मोती के निकालने में व्यस्त रहता है। जहाँ देखिये सत्य की ही खोज है। हाँ पैसा ठगने अथवा मूर्खों का गोल बढ़ाने के लिए गप्प गढ़नेवालों की संख्या भी बहुत है। इन्हीं से बचने के लिए हमें सत्य की व्याख्या की ज़रूरत पड़ी है।

(२)

सत्य का ही पर्याय विज्ञान है। प्रत्येक विज्ञान् का विद्यार्थी सत्य की ही खोज में लगा रहता है। वह धर्म-प्रचारकों की तरह संसार की आँखों में धूल झोंक कर सत्य के छिपाने की चिन्ता नहीं रखता। मनुष्य में सच्ची बात कहने की हिम्मत होनी चाहिये। परवा नहीं, मरे हुओं ने क्या कहा या जीवितों का क्या विश्वास है। सचाई ही बुद्धिमानों की ईमानदारी है। इसी में उनका और औरों का भी भला है। जो धर्म या लट्ठ का भय दिखाकर किसीको सत्य बोलने से रोक रखता है, वह सभ्यता का नाशक, मनुष्य जाति का घोर शत्रु—कट्टर दुशमन है। जो राज्य के नियन्ता और धर्म के सञ्चालक अपने विचारों के प्रकट करने के अधिकार का दावा करते हैं और दूसरों के उसी अधिकार को अस्वीकार करते हैं वे अन्यायी और असत्य के समर्थक हैं। कोई विचार कैसा भी पवित्र, शुद्ध और निर्दोष क्यों न हो दूसरों को अधिकार है, कि उसकी जाँच करें—उसकी आलोचना-प्रत्यालोचना करें। कौन जानता है कि कौनसा विचार पवित्र है। कोई भी विचार मेरे लिए पवित्र

नहीं है जिसकी बाबत मैं यह न जान लूं कि यह सच्चा है। स्वतन्त्र विचार प्रकट करना एक मुद्दत से राजा या राज्य और ईश्वर की अवज्ञा का कारण समझा जाता है। यह क्या? कुरान के किसी विचार के विरुद्ध मुँह खोला कि मुरतिद, मुनहरिफ और इञ्जील को समालोचना की कि हियरटिक बनाया गया, वेदों, शास्त्रों के किसी वाक्य में शंका उत्पन्न हुई तो 'नास्तिको वेदनिन्दकः' कह कर उसका तिरस्कार किया गया। सोक्रेटीज और गलेलिया का दण्डित होना, कादियानियों का कावुल में पथराया जाना, स्वामी दयानन्द की हत्या करना, बौद्ध-भिक्षुओं का देश से वहिष्कृत किया जाना, धार्म्मिक अत्याचारों के जीते-जागते प्रमाण हैं। लो० तिलक को कई बार क़ैद क्यों हुई, म० गाँधी को जेल क्यों भेजा गया, आज अनेक नवयुवक जेल में क्यों सड़ रहे हैं? स्वतन्त्र विचारों के प्रकट करने के कारण।

स्वतन्त्रता, वादानुवाद, ईमानदारी, खोज और हिम्मत सत्य के सहायक सखा हैं। इनका अपमान करना सत्य का अपमान है। सत्य का प्रेम प्रकाश से है, खरे मैदान से है, खुली बात से है। सत्य मनुष्य के ज्ञानेन्द्रियों, मनुष्य के विवेक, तर्क और अन्य समस्त मानसिक गुणों से उपनीत होकर कहता है— सोचो, विचारो, समझो मैं कहाँ और कैसे हूँ। इसके लिए बलवान् निर्बल पर, मनुष्य-मनुष्य पर अत्याचार करे; यह न्याय है, सत्य है, धर्म है या पाजीपन?

सचाई नहीं चाहती कि लोग लट्ठ के सामने सिर झुका कर प्रणाम करें, आदाव करें, डोमेज के लिए उद्यत हों, पेट के वल चलें, पुरुषों की गुदा और स्त्रियों के गुह्य स्थान में लकड़ी की जाय। भय दिखला कर नमस्कार प्राप्त करना सत्य सदा बुरा समझता रहा है और रहेगा। हम सत्य की सेवा क्यों करें ? खोज, ईमानदारी, भद्रता की क्यों ज़रूरत है ? प्राणी मात्र के सुख के लिए। यह न मानें तो कम से कम मनुष्य मात्र के सुख के लिए। यह स्वतन्त्र विचार वाले प्रत्यक्ष-वादी का उत्तर है। अन्ध विश्वास सत्कर्म नहीं है। विना तर्क और वुद्धि के सहयोग किये कोई वात 'निर्णीत' (Settled fact) नहीं हो सकती।

यह सत्य और विचार-स्वाधीनता का ही फल है कि संसार ने इतनी वैज्ञानिक उन्नति की। यदि इसके मार्ग में धर्म छल और राज-कैतव की रोकें न होतीं तो आज जगत् कई शताव्दी आगे आनेवाले समय को कभी का प्राप्त कर चुका होता। प्रकृति के भेदों का उद्‌घाटन, प्रकृति पर विजय पाना, मार्ग की नैसर्गिक वाधाओं को दूर करने का साधन सत्य है। हम देखते हैं मनुष्यों में भूक-प्यास का कष्ट वढ़ रहा है, रोगों की वृद्धि हो रही है, नाना प्रकार की यातनाएँ सामने खड़ी हैं, कद छोटे होते जाते हैं, उमर घटती जाती है, पेट के लिए प्रेम वेचा जाता है। यह सव कैसा नाटक है ? अन्न, वस्त्र, घर, ईंधन, भैषज आदि विहीन कानून से शान्ति कैसे स्थिर

रहेगी ? संसार सुखी कैसे हो सकेगा ? इस लोक में योंही पैर घसीटते रहो परलोक में बड़ी-बड़ी हवेली, दूध, मधु, मक्खन, मद्य वगैरह के समुद्र, सुन्दर-सुन्दर जरतारी रेशमी वस्त्र और जवाहरात जटित सोने के गहने मिलेंगे, इसलिए या इसलिए कि हम सुख और शान्ति से घर में खाने-पहरने की झंझट को छोड़ कर मरणोन्मुख हो चैन की वंशी बजाते रहें और आनन्द से डण्ड पेलें। अगर इसमें जरा भी गलती हुई तो पुलीस का लट्ठ, जज का फतवा और जेलर का सोंटा सिर पर धरा है। अगर यह बातें ठीक इसी लिए हैं तो हुजूर का सत्य बड़ा विचित्र है, इतनी टेढ़ी खीर है कि उसको निगलते ही हलक़ फट जाता है। ऐ सचाई तू किधर है ? कैसी है ? क्या ऐसी ही है, जैसा हमें धर्म और राजशासन बतला रहे हैं ? अगर तुझे हम ऐसा जानते तो तेरी उपासना न करते, तुझे दूर से ही नमस्कार कर लेते। परन्तु हमें पूर्ण विश्वास है कि सचाई ! तू है, सनातन है, मानव धर्म है, सुख का हेतु है, तू ही आनन्द है, तू ही चैतन्य है, तू ही अक्षर है।

यह भूमण्डल अभावों और दुर्गुणों का भाण्डार हो रहा है, भयानक सर्पों से आकीर्ण है, इसमें मूर्खता-जन्य भय और घृणा प्रधानता प्राप्त कर चुकी है, सावधान ! सावधान !

देखो, अब परलोक का राज-राजेश्वर, सातवें आसमान पर अनिर्णीय चौकी पर विराजमान बादशाह पदच्युत किया जायगा, नरक की यातनाओं का नामोनिशान मिटाया जायगा,

कुम्भीपाक, रौरव, संहार और कालसूत्र आदि नरकों को सदा के लिए उठा दिया जायगा, हवालातों, जेलखानों की ज़रूरतें मिटा दी जायँगी। समय समीप है जब सत्यदेव की पूजा का विस्तार होगा, लोग अपने दिमाग़ समुन्नत कर सकेंगे, वुद्धि बढ़ा सकेंगे। हम देखेंगे, कि प्रकृति ही हमारा धर्म्म-ग्रन्थ है, इसी के पाठ से सत्य की जय होगी, असत्य मिटेगा और संसार सुखी होगा।

मनुष्यो, अपने ऊपर विश्वास करो, अपने पैरों खड़े हो। भाग्य के भरोसे पर जीनेवालो! अदृश्य अज्ञात परमेश्वर से भिक्षा माँगकर तुम पेट नहीं भर सकते, इसलिए संसार में मनुष्य की तरह जी भी नहीं सकते। आपने शेख़चिल्ली की कहानियाँ सुनी हैं, आपके पास वे मूँड़-गोड़ की कथाओं का भाण्डार भरा पड़ा है। उनसे तुम्हारा क्या बना? हिन्दुओं, तुमको सहस्रों वर्षों से सुख की नींद सोना, निश्चिन्त बैठ कर पेट भरना नसीब नहीं हुआ। अगर इन परलोक की कहानियों से पेट भरता होता तो तुम कभी इतने भूके-नंगे नहीं हो सकते थे। प्रकृति से बड़ा कोई नहीं है। मनुष्य ही अपना भाग्यविधाता, दूसरे मनुष्य का भी विधाता है। मनुष्य-समाज एक बनकर, मिलकर प्रकृतिका स्वामी बन सकता है। वृक्ष, धरती, सड़क, कंकड़ियाँ, नदी, वन, उपवन, पहाड़ सभी मिलकर हमें एक नया वृतान्त, नई कथा बतला रहे हैं। आकाश के तारे, चन्द्र

सूर्य्य, प्रकृति के अंग हैं, व्याख्यान सुनो और मनन करो। सच्ची उमङ्ग, सच्चे उत्साह से मनुष्यवत् बने रहो।

सिजदे से गर बहिश्त मिले दूर कीजिये,
दोज़ख़ सही पै सर का झुकाना नहीं अच्छा।

मैं समझता हूँ, लोग सुनते-सुनते घबरा गए होंगे। पर मैं क्या करूँ, यह सत्यदेव की सच्ची कथा है, दिल जलों की आह है, पचास वर्ष के दुखमय जीवन का अनुभव है। इसे आप चाहते हैं तो सुनें नहीं तो आपका अधिकार है आप इन दो-चार पृष्ठों को उलट जाय, दूसरी रोचक बात पढ़ें। मैं नहीं कहता कि आपको पढ़ना पड़ेगा, नहीं तो नरक के सुपुर्द या जेल के हवाले होना होगा। कहूँ भी कैसे न हाथ में इतनी शक्ति, न दिल में इतनी मूर्खता की इच्छा। हाँ, मैदान में डटा हूँ, अपनी खोई हुई सत्य की शक्ति को ढूँढ़ता हूँ।

न दस्ते कि बा यार दरावेजम मन।
न पाये कि अज़ मियानः बुगुरेजम मन।

'आमदम बरसरे मतलब।' 'सत्यम् धर्म सनातनः।' क्या यह सत्य नहीं है, कि नारियों के कष्ट नरों से कहीं अधिक हैं। इन्हें एक हज़रत ने पति का ग़ुलाम, दूसरे ने भोग का सर्वोत्तम पदार्थ बनाकर और विचार ही दिल से निकाल दिया, तीसरे ने यह लोक ही नहीं परलोक सी मिथ्या वस्तु की आशा के आधार से भी वञ्चित कर दिया और कह मारा 'नारियों की

मुक्ति ही नहीं होती, और तो और विद्या के बोझ से दबे हुए अनेक दार्शनिकों ने भी इन्हें दबोचे रखने का पूरा प्रयत्न किया। जर्मनी का बड़ा भारी दार्शनिक पण्डित शोपेनहार साहब फरमाते हैं—

Woman is not called to Creat things. shë pays her debt to life by the throes of birth, carë of her children, subjection to her husband. The most intense utterances of life are denied her Her life is destined to be less event-ful and more trivial than that of man. It is her vocation to nurse and educate children, because she is herself childish and remains an over-grown child. All her life is a kind of intermediate being between the child and the man who is the only proper human being.

भाषान्तर—महत्व के कामों के लिए नारियाँ नहीं होतीं। वह प्रसव वेदना, बच्चे की सेवा और पति की दासता से अपने जीवन का ऋण चुकाती हैं। उसे अपने जीवन की गहरी बातों के कहने का भी अधिकार नहीं। उसके जीवन का नरों के जीवन से अधिक तुच्छ और कम घटना पूर्ण होना उसके भाग्य में है। उसका यही काम है कि बच्चों को पाले-पोसे, खिलाये-पिलाये, क्योंकि वह स्वतः बच्चों की तरह होती है

और जीवन भर किशोर वयस्क बालक बनी रहती है। बच्चों और मनुष्यों के बीच का एक जीव नारी है, यथार्थ मनुष्य तो पुरुष ही है।

अर्थात् स्त्रियाँ मूर्ख, नादान, बे समझ, केवल घर की टहल चाकरी के योग्य होती हैं। यही तुलसी बाबा भी कहते हैं— "ढोल गँवार शूद्र पशु नारी, ये सब ताड़न के अधिकारी!" सुभान तेरी कुदरत! सुभान तेरा खेल! कितनी दूर की सूझी, कितना सुन्दर विचार है, कैसी महत्वपूर्ण खोज है— कैसी सत्य और न्याय की बात है? और हजरत शोपेनहार की जबानी सुनिये—Girls should be brougt up to habits of domesticity and servility.

लड़कियों को घरेलूपन, नम्रता, सेवा-कर्मकी शिक्षा-दीक्षा मिलनी चाहिए। जैसे मनु बावाने शूद्रों के लिए फरमाया है, 'सुश्रूषामनुसूयया।

यह क्यों? इसलिए कि Women are the most complete and hopless philistines" स्त्रियाँ परिपूर्ण और आशातीत मूर्खा होती हैं।

यदि यह बात डाक्टर बेसेण्ट सदृश विदुषी महिला ने पढ़ी या सुनी होगी तो उन्हें आश्चर्यान्वित होकर शोपेनहार की आत्मा को बुलाकर पूछना पड़ा होगा कि यह क्या बात है? क्योंकि श्रीमती बेसेण्ट साहबा सनातन धर्म का रहस्य समझती हैं। अमरीका, योरोप और रूस में विद्वान् महिलाओं

की कमी नहीं है, वह क्यों फिर लौट कर अविद्यान्धकार में जाना ठीक समझेंगी। क्या परिडता उमा नेहरू ऐसे पुरुषों के मिथ्या विचारों का खण्डन करके 'सत्य' का झण्डा न उठायेंगी?

कोई भी देश ऐसा नहीं जहाँ की बाबत हम शोपेनहार और उसी के से दूसरे अनेक विचार वाले दार्शनिकों के विचारों को सत्य समझ सकें। मूर्ख स्त्री हो वा पुरुष अनेक कारणों से होते हैं। परिस्थिति, शिक्षा दीक्षा की सुविधा का न मिलना; बलवानों, धनवानों, विद्वानों का अत्याचार, आब हवा, शारीरिक दोष आदि कुछ ऐसे कारण हैं जो नर-नारियों को मूर्ख बना देते हैं। इन बातों पर प्रकाश डालने के बदले, इन कारणों को दूर करने के स्थान पर जो कहता है कि अमुक अंश मनुष्य जाति का मूर्ख बने रहने के लिए ही बना है वह असत्य कहता है, सत्य का ख़ून करता है। सत्य सनातन धर्म बतलाता जा रहा है और बतलायेगा कि अन्त में सत्य की ही जय होती है।

हमें आशा है हमारे देश के नर-नारी यह सिद्ध कर देंगे कि उनका ज्ञानी, विद्वान्, बलवान् और स्वतन्त्र मनुष्य बनना उनके हाथ में है, और इस तरह से बना करते हैं क्योंकि यही रीति सत्य और सनातन है।

(३)

ऊपर के दो लेखों में जो कुछ भी कहा है वह सब प्रत्यक्ष, प्राकृत एवं स्वयं सिद्ध सत्य है। मुझ से कोई पूछे कि कौन

कहता है 'दासता स्वतन्त्रता से अच्छी है।'' तो मैं साफ़-साफ़ कह दूँगा कि सारे पण्डित, पुरोहित, मौलवी, मुल्ले, पोप और बिशप कहते हैं कि ईश्वर की सच्ची आज्ञा, अपौरुषेय ज्ञान हमारे पास है, इसे आँख बन्द करके मान लो, इसीके अनुसार चलो, अक़्ल को दखल न दो। जो कोई इस पुस्तक में लिखी हुई बातों को—जो अपौरुषेय हैं, मनुष्य-बुद्धि के बाहर हैं न मानेगा, वह अनन्त या असीम समय के लिए नरक की यातना भोगेगा या "चौरासी" में फिरता फिरेगा। चाहे तुमको धर्मपुस्तक की बात कितनी ही .खुराफात भरी नजर आवे पर उसे ज़रूर ही मान लो, नहीं तो तुम नास्तिक हो, मुर्तिद हो इत्यादि। क्या यह मानसिक स्वतन्त्रता है या .गुलामी की कठिन बेड़ी?

हमारे गले में धर्म पुस्तकें आशा और भय के डोरे से बाँधी जाती हैं। एक ओर शैतान हमारी गर्दन दबोचने को तय्यार है और दूसरी ओर परमेश्वर महाराज या अल्लाह मियाँ अपना डंडा लिए लाल-लाल आँख दिखा रहे हैं। इस धर्म रूपी चक्की के दोनों पाटों के अन्दर मनुष्य आँख बन्द करके पिसे जा रहे हैं। इस पर भी कहा यह जाता है कि सत्यासत्य का विवेचन करने वाली बुद्धि तुम्हें मिली है, तुम स्वतन्त्रतापूर्वक सत्यासत्य के निर्णय के अधिकारी हो। परमात्मा दयालु है वह तुम्हें स्वतन्त्रता देता है कि तुम अपनी पसन्द से काम करो। बेचारे बे-पढ़े दीन-हीनों से पुरोहितजी

कहते हैं, तुम वेद-शास्त्र पढ़ कर नहीं समझ सकते, कुरान का समझना आसान नहीं, बाइबिल का ज्ञान लेना टेढ़ी खीर है। हमारे हाथ में स्वर्ग की कुञ्जी है; चले आओ हम तुम्हें अभी ठीक-ठिकाने पर पहुँचाये देते हैं। किसीने ठीक ही कहा है :—

गधे की लंगोटी में तीन मुहर सोने की
कहती है बुलबुल मैं पार लगा दूँगी सुन।

अर्थात्, अज्ञानी लोगों का जीवन—लड़कपन, जवानी और बुढ़ाई, सोने की अशर्फियाँ हैं, बुलबुल—पुरोहित और पण्डित—इन्हें पार लगा देने का धोखा देते हैं।

हमारे ख़ैरख़ाह वकलाय खुदा फरमाते हैं कि धर्म-पुस्तक मनुष्य के तर्क की पहुँच से कहीं परे हैं, मनुष्य-बुद्धि उसके रहस्य को नहीं जान सकती। मैं भी कहता हूँ, 'बात सत्य है, मनुष्य-बुद्धि से खारिज पागलखाने के निवासियों के लिए ही आपकी धर्मपुस्तकें बहुत उपयुक्त हैं।'

इस तरह हमारे मन-मन्दिर से परम-पूज्या भगवती बुद्धि को बहिष्कृत करके हमें नरक के भय रूप सर्प के सामने खड़ा किया जाता है और कहा जाता है—इस सर्प का भय करो नहीं तो तुम अपने आपको खो बैठोगे। मैं तो यही कहूँगा कि इस सर्प का सर कुचल दो, भय के भूत को विदा कर दो, आँख खोलो, देखो सत्यासत्य, उचित-अनुचित का भेद बतलाने वाली कसौटी तुम्हारे पास है। अगर दिमाग़ ईश्वर के भय की धुआँधार गरम हवा और धूल से भरी हुई आँधी से जल

कर इशारा का जङ्गल बन गया तो तुम्हारा जीवन व्यर्थ हो जायगा। हमें बच्चों की तरह फुसलाने-बहलाने के लिए केवल नरक का भय ही नहीं, किन्तु स्वर्ग के सुखों का प्रलोभन भी दिया जाता है। अगर तुम डरसे बुद्धि को विदाई नहीं दे सकते तो बाबा कुछ उत्कोच (रिशवत) लेकर ही अक्ल को ख़ैरबाद कहो।

लेकिन स्वाभाविक सत्य सनातन धर्म कहता है कि बुद्धिमान् समझदार, विचारशील व्यक्तियों की प्रतिष्ठा और निष्ठा उसी बात पर हो सकती है जिसकी जड़ में खुली ठोस सर्वमान्य घटनायें हों, जिसका आधार विशुद्ध सत्य बातों पर हो। बात तो वही मानने लायक होती है जिसमें धमकी, घुड़की से काम न लिया गया हो, वासनाओं को न भड़काया गया हो, आशा और भय का सहारा न लिया गया हो बल्कि बुद्धि सीधे-सादे विस्पष्ट शब्दों में विवेक से काम लेने के लिए छोड़ दी गई हो और विवेक ने अपना आख़िरी फैसला दे दिया हो। मन को सारी योग्यताओं ने, हमारे सारे इन्द्रिय ज्ञानों ने, हमारी बुद्धि ने मिलकर यह कहा हो कि अमुक बात निस्सन्देह मान लेने योग्य है क्योंकि हमने इसे छान-छान कर खरा पाया है तो हम उसे ज़रूर मानेंगे, इसमें किसी भी पण्डित या पुरोहित की सिफ़ारिश दरकार नहीं।

वाचक वृन्द! विश्वास किसी पुरस्कार या उत्कोच से पैदा नहीं होता। विश्वास की उत्पत्ति निर्दोष प्रमाणों से होती

है। किसी इनाम या रिश्वत का वादा सबूत नहीं हो सकता। रिश्वत से बात की वस्तु-स्थिति पर कोई प्रकाश नहीं पड़ सकता, न इससे बात सिद्ध होती है, न इससे कोई सन्देह दूर होता है, न किसी शंका का समाधान इससे सम्भव है। रिश्वत या इनाम के बल पर किसी बात का किसीसे मनवाना या कहलाना ईमानदारी नहीं बेईमानी है, असत्य है, छल है, धोका है, दुष्टता है, बद-माशी है। किसी हाकिम को—चाहे बदनाम पुलीस का सिपाही हो, डिप्टी कलक्टर, मजिस्ट्रेट हो, चाहे जज या जूरर हो—रिश्वत तभी दी जाती है या रिश्वत का वादा तभी किया जाता है जब झूठ को सत्य कहलाना होता है। हम से स्वर्ग के सुखों का वादा इसी लिए किया जाता है कि हम धर्म्म पुस्तकों की मिथ्या कल्पनाओं को सत्य कहने लगें। मनुष्यो सावधान! इस रिश्वत के वादे से बचो, नहीं तो तुम तो मारे ही जाओगे तुम्हारी आगे आनेवाली सन्तानों का भी सत्यानाश होता रहेगा।

अगर मैं कह दूँ कि धरती के केन्द्र में एक ऐसा हीरा है जिसकी परिधि ५०० मील है। मेरी इस बात का जो विश्वास करेगा उसे एक करोड़ रुपया इनाम मिलेगा। तो क्या आप इस बात को प्रमाण मान लेंगे? क्या यह वादा प्रमाण है इस बात का कि ५०० मील परिधि वाला एक हीरा भूगर्भ में मौजूद है? बुद्धिमान् लोग तो तर्कशास्त्र की कसौटी पर इस कथन को

परखना चाहेंगे, युक्तियुक्त प्रमाण माँगेंगे, हाँ, धोका देनेवाले और ढपोरसंख लोग धन के लोभ से चाहे ऐसे झूठ को सत्य कहने लगें। मैं तो सभी धर्म्मों की पुस्तकों से उद्धरण देकर बतलाता कि मेरा दावा बिल्कुल सच्चा है, लेकिन मुझे विश्वास है कि मतवाला महाराज इतने लम्बे लेखों को स्वीकार नहीं करते इसलिए यहाँ ही रुकना पड़ा। चमत्कारों, मोजज़ों या और अनहोनी बातों को प्रघटित घटना बताकर लोगों की आँखों में धूल झोंकना धर्म्म-नेताओं का ही काम है। इससे मनुष्य की मानसिक स्वतन्त्रता पर पत्थर डाला जाता है। जहाँ आत्मोद्धार के लिए विश्वास को प्रधानता दी गई है वहाँ बुद्धि का गला घोंटा गया है। इस प्रकार की बेहूदा बातों ने स्वत्व और दायित्व, भले और बुरे के पहिचान की कसौटी पर पर्दा डाल दिया है।

मजा यह है कि इन सारी अनुचित चेष्टाओं के होते हुए भी जनसाधारण पर सनातन अर्थात् नैसर्गिक धर्म का प्रभाव बना ही रहा और समय-समय पर झूठ का पर्दा खोलने, असत्य का गढ़ ढाहने को अविश्वासी, नास्तिक निर्भीक लेखक और वक्ता होते ही रहे और सत्य की क्रमशः जय होती रही। आज हमें संसार का रंग पहले से बहुत बदला नजर आ रहा है। चाहे अल्लाह मियाँ आस्तीन चढ़ाये मेरी गर्दन नापने को तय्यार क्यों न खड़े हों, चाहे धर्मनेता हमें रात-दिन ईश्वर महाराज की तलवार की धार और उनके जेलखाने की मुसीबतों की कथा

सुनाया करें पर अक़्ल तो इस बाजीगरी को शिकस्त देकर ही चैन लेगी । इन धर्म के मक्ताओंने (Monopoly holders) कितने विरोधियों के प्राण नहीं लिए। इसी साल के भीतर क़ुरान के संरक्षकोंने सात आर्य समाजियों के ख़ून पिये, पिछले इतिहास की दास्तान दुहराने की ज़रूरत नहीं। ऐसे वैकुण्ठ या बहिश्त की ख़रीद फरोख़्त का बाज़ार, आजकल भी ख़ूब गर्म है। हिन्दुओं का बाज़ार इस खयाल से बड़ा ही सुन्दर और शानदार नजर आता है। इनके यहाँ अदालतों की तरह ईश्वर के यहाँ भी वकालत, रिशवत, नजराना बड़े ज़ोरों के साथ चलता है। रिशवत मुसलमान ईसाई भी देते हैं; पर हिन्दू इन से बढ़े-चढ़े हैं। हिन्दुओं के हरामखोर धर्म्म नेता तादाद में बहुत—अन्य धर्म्मों की अपेक्षा बहुत ज्यादः—हैं और मज़े भी ख़ूब उड़ाते हैं।

लेकिन विशुद्ध सत्य या सनातन सत्य तो इसे बड़ी ही घृणा की दृष्टि से देखता है और चाहता है कि मोम को मोम कहा जाय, पत्थर को पत्थर—अनर्थ अच्छा नहीं, मूर्खों के धन से जेब भरनेवाले पुरोहित, पण्डे, मौलवी, आज माला माल हैं। जो जनता कथा-कहानियों और गपोड़ों पर विश्वास करना छोड़ दे तो हरामख़ोरों का एक बहुत बड़ा समुदाय अपनी मौत आप ही मर जाय और जल्दी मर जाय।

एक घोर पाप राक्षस को संसार का स्वामी बनाकर आकाश में बैठाल देना और फिर उसके नाम से संसार के लोगों को

निर्दयता के साथ दोनों हाथों लूटना धर्म है। जो इसका भण्डा फोड़ करने उठे, उसे बड़े-बड़े उपाध्याय एम० ए० खानदानी लुटेरे कोसने को खड़े हों। इन लुटेरों और .गुलाम हृदयों को स्वतन्त्र विचार वाला मनुष्य सुहाता ही नहीं। यह काल्पनिक जगत् में चक्कर लगानेवाले सच्चाई को फूटी आँखों नहीं देख सकते। इसमें अपराध किसका है? सत्य का!

बीरबल आकाश दीपक के तले बैठकर खिचड़ी पकाता है, बाबा नानक इलाहाबाद में त्रिवेणी के जल से अपना क़रतार पूर का खेत सींचते हैं। इन्हें कोई कैसे समझाये जब समझाने वाला .खुद नरक की आग में जलने से डरता हो और अज्ञात लोकस्थ मृत लोगों को भर-भर लोटे पानी पहुँचा रहा हो।

(४)

सिवा धर्म के और सारे ही विज्ञान वास्तविकता की खोज में व्यस्त और सचाई की तलाश के इच्छुक और सच्ची बात के भूखे देखे जाते हैं। जब कभी, जहाँ कहीं किसी व्यक्ति ने कोई सच्ची बात खोज कर निकाली कि उसका यथेष्ठ सम्मान किया गया। लेकिन धार्मिक विद्यालय में अगर किसीने किसी साम्प्रदायिक विश्वास के विरुद्ध कोई बात कही कि वहीं उसका मुँह बन्द किया गया, या तो वह अपनी खोज को गुप्त रखे, या अपनी खोज का स्वतः खण्डन करे, नहीं तो पदच्युत होने का अपमान झेले। श्रीमती एेनीबेसेन्ट सदृश पण्डिता को उनके पति ने इसलिए अपने प्रेम से वञ्चित किया था कि

इनका मत उनके धर्म के सिद्धान्तों के प्रतिकूल पड़ा। मन की शुद्धता और सत्यता पाप है, कायरता और छल सुकृति है। स्थापित धार्मिक सिद्धान्तों के विरुद्ध कही हुई सच्ची बात मिथ्या है, जहाँ किसी ने ऐसी सच्ची बात कही कि वह अभिशाप का भागी बना। धर्मशिक्षा-भवन का हर एक अध्यापक अनृत में ही जीवन व्यतीत करता है। धर्म-विज्ञान ही एक असत्यपूर्ण ज्ञान है। इसे विज्ञान कहें या अज्ञानान्धकार? बड़े-बड़े विद्वान् जो धर्मनेता हो गए हैं और हैं, सभी बुद्धि के शत्रु हैं। भूगर्भ, भूगोल, खगोल आदि विद्याओं के ज्ञाताओं को उनके सच्चे विचार के लिए दण्ड दिए गए, मानों वे हत्यारे और महापापी थे, सिर्फ़ इसलिए कि उन्होंने माने हुए धर्म-सिद्धान्तों के विरुद्ध सत्य का प्रकाश किया।

आयुर्वेदज्ञों, प्राणी शास्त्र के ज्ञाताओं, नृवंश विद्या के जानकारों और पुरातत्व के खोजने वालों को धर्मयाजकों ने बुरा-भला कहने से नहीं छोड़ा। फ्रान्स के कुम्हार पैलिसी को जिसने चीनी के बर्तन बनाने की रीति खोजी, धार्मिक विचारों के कारण कैद किया गया। यद्यपि आज उसकी मूर्ति फ्रान्स देश को सुशोभित कर रही है। लोकमान्य भगवान् तिलक को वेदों की आयु की खोज करने और गीता रहस्य लिखने के कारण उनके कतिपय शिष्यों तक ने उन्हें बुरा-भला कहा। यह धर्म-विज्ञान की सचाई, उदारता और महत्ता के छोटे-छोटे नमूने हैं। कुरान के विरुद्ध विचार प्रकट कीजिये कि मुसलिम खड्ग

दुस्त शिर पर खड़ा मिलेगा। बाइबिल का खण्डन कीजिये कि कि तुरन्त पादड़ी समाज काटने दौड़ेगा। यही हाल हिन्दू और दूसरे धर्मों का भी है। हाँ, जुदा-जुदा धर्म वालों के क्रोध के पारे की डिगरी में तारतम्य आजकल ज़रूर देखने में आता है।

धर्म पुस्तकों और उनकी बातों की पड़ताल करने से प्रकट होता है कि सारे धर्म एक अनृत कल्पना की शाखाएं हैं। क्योंकि उनकी गप्प कथाएं एक दूसरे से ख़ूब जोड़ खातीं और समता रखती हैं; पर इस बात को स्वीकार करने के लिए कोई तैयार नहीं। यदि सत्य मानने को धर्मयाजक तैयार होते तो गुरु नानक के उपर्युक्त व्यावहारिक श्राद्ध-तर्पण के खण्डन के पश्चात् यह मिथ्या प्रथा उठ जाती। पर नहीं, ज्यों-ज्यों सत्य का सूर्य ऊँचा उठता जाता है, यह बुराइयाँ दिन-दिन घटती ही चली जा रही हैं। धर्म के संरक्षक संभाव्य, समता और अनुमान की दुहाई देते हैं, लेकिन प्रमाण नदारद। अगर मूसाने और बृगहम यंगने सिनाई और ऊटा पर ख़ुदा से बात की, तो नामदेव की प्रार्थना पर विष्णु की मूर्तिने दूध पिया और भोजन किया और मुहम्मद साहबने सातवें आसमान पर जाकर ईश्वर से साक्षात् बातें की। ललित विस्तर के अनुसार बुद्धदेव को दिग्पालों ने आकर प्याले दिए। जैन सतीने पैर छुआकर हज़ारों मन की जञ्जीर तोड़ गिराई। भला इन बातों को सिवा अन्धविश्वासियों के दूसरा कौन सज्ञान मनुष्य सत्य मान सकता है?

कौन से धर्म ने विज्ञान की वृद्धि की है? जितनी खोज, जितने आविष्कार आज हमारे सामने हैं, इनमें से एक का भी पता धर्म पुस्तकों में होता तो नई खोज को हम खोज या आविष्कार क्यों कहते? हम तो इन्हीं नई-खोजों को धर्मग्रन्थ करताओं की बहादुरी समझकर पहले ही सन्तुष्ट हो जाते। धर्मग्रन्थों के अर्थों को प्रत्याह बदला जाता है, या उनके नये-नये अर्थ किये जाते हैं। पर उन गप्पों से परिपूर्ण गल्पों को सदा के लिए तह करके क्यों नहीं रखा जाता? इसलिये कि उनके बिना पुरोहित-मण्डल और राजवर्ग की लूट कायम नहीं रह सकती। धर्मयाजकों की कथा में जब श्रोता कम आते हैं तो वह नई शिक्षा, और विज्ञान के प्रकाश को ख़ूब जी भरकर कोसते हैं। कभी-कभी यह निर्धनों की प्रशंसा में धरती और आकाश की सन्धि मिला देते हैं। धन,, दौलत, भोग-विलास की मनमानी ख़बर लेते हैं। ग़रीबों और त्यागियों को स्वर्ग में पहुँचा देते हैं। परन्तु हज़रत की नज़र चढ़ावे पर ही रहती है। चढ़ावा कमती आया, दक्षिणा कम मिली कि श्रद्धा-भक्ति की कमी की दुहाई मच गई। इन पुरोहितों का न शिक्षा में विश्वास है, न मस्तिष्क की समुन्नति में भरोसा और सुख। यह तो यही चाहते हैं कि सारा संसार अन्धा बनकर दुनियाँ भर की गप्पों को सच मान ले और इनका उल्लू सदा के लिए सीधा बना रह जाय।

इनकी बुद्धि में पृथ्वी चक्की के पाट के सदृश है, सूर्य्य एक कीचड़ के गड्ढे से निकलता है और फिर वहाँ ही जाकर

छिप जाना है, इत्यादि। जहाँ देखिये धर्मान्धता, अन्धविश्वास, रूढ़ियों की दासता, रीतियों-रिवाजों की ग़ुलामी भरी पड़ी है। यह अन्ध विश्वास और रूढ़ि-प्रियता विषधर सर्प हैं। इनके घातक विष से जाति को सचाई ही बचा सकती है। धर्मान्धता प्राण घातक है। एक विज्ञान-प्राण सज्जन कहते हैं। 'अब ईडन के बाग़ की कहानी, नेवले का सुनहरी पूछ का किस्सा हमें सदा के लिए उठा देना पड़ेगा। आज के लिए, सर पी० सी० राय और सर जे० सी० बोस हमारे ऋषि हैं। इनके लिखे वैज्ञानिक ग्रन्थ वेद हैं, प्रकृति ही उपास्य परमात्मा है। वह समय दूर नहीं हैं जब धार्मिक व्याख्यानों के स्थान में सत्यवादी विद्वानों के शिक्षा-प्रद भाषण होंगे, जिनसे हमें अटल सत्य का पता लगेगा। प्रकृति के गुप्त, गूढ़ रहस्य हमारे हस्तगत होंगे। पुरानी निर्मूल, तर्क विरुद्ध पुस्तकों के स्थान में हमारे पुस्तकालय वैज्ञानिक खोजों की पुस्तकों से भरे होंगे। पुरोहितो! सावधान, गप्प गाथाओं को, भद्दी बेसर-पैर की रिवाजों को जल्दी मिटा दो, हँस-हँस कर मिटा दो, नहीं तो तुम्हें बहुत पछताना पड़ेगा। तुम्हारे बच्चों को इसका कुफल भोगना पड़ेगा। अज्ञान का दिन-दिन नाश हो रहा है।

आओ बान्धव, हम सत्य से प्यार करें, आत्मा की स्वतन्त्रता पर कुठाराघात न करें। हम बच्चों को शिक्षा पालने से ही, मांकी पवित्र गोद से ही आरम्भ कर दें। यही प्रारम्भिक शिक्षा का पवित्र मन्दिर है। इस शिक्षा में हम लड़की-

लड़के का भेद भूल जायँ। सभी ज्ञानार्जन करने के लिए एक समान अधिकारी हैं। माता की गोद झूठ का विस्तार करने के लिए नहीं है। यह पवित्र स्थल झूठ का भाण्डागार न होना चाहिए। माता-पिता निस्संकोच होकर बच्चों से सदा सत्य बोलें। जो बात वे न जानते हों कहदें कि "नहीं जानते"। झूठ गढ़ कर बच्चों के दिल और दिमाग़ में झूठ के पौधे का समारोपन बड़ा दोष है। हर बच्चे को अधिकार होना चाहिए कि वह जो चाहे पूछे, शङ्का करे, सन्देह करे, किसी बात के लिये ठीक हेतु माँगे। जिस बात को हम सिद्ध करके नहीं बतला सकते उसे व्यर्थ सत्य कह कर बच्चों के सिर में ठूँसते रहना मानव-जाति का घोर अकल्याण करना है।

हममें से प्रत्येक का कर्तव्य है कि झूठ से बचे, किसी की भी बात को बिना जाँचे-पड़ताले बिना छान-बीन के सत्य न मान बैठें। शिक्षा का अभिप्राय है मनुष्य-बुद्धि को विकसित करना, उसके मस्तिष्क को इतना बलवान् और अन्वेषक बनाना कि वह अपनी खोज से संसार को लाभ पहुँचा सके। प्राकृत सत्य का प्रकाश ही मनुष्य का ध्येय है, यही सनातन सत्य है। हम सब इस सत्य की खोज में लगें। क्योंकि

सत्यं धर्मं सनातनः

नोट—यह लेख १८ अप्रैल १९२८ के मतवाला में प्रत्यक्षवादी के नाम से छपा था।

अन्ध विश्वास

अन्ध विश्वास की जननी मूढ़ता है, इसका जनक भय है और इसकी सन्तति घोर दुःख।

आप कहेंगे कि विश्वास तो अन्धा होता ही है। प्रेम और विश्वास का अन्धा होना जगत्-प्रसिद्ध बात है। मैं कहूँगा, नहीं, कदापि नहीं—ऐतिहासिक प्रमाणों से, आगमन और निगमन तर्क से जाँचने के बाद जिस बात का विश्वास किया जाता है, जो बात विज्ञान की प्रयोगशाला से ठीक सिद्ध होकर हमारे विश्वास का हेतु होती है, जो प्रत्यक्ष प्रमाण की कसौटी पर कसने में बावन तोले पाव रत्ती उतरती है वह विश्वास है, शेष अन्ध विश्वास।

इस एक विभेदात्मक भाव को लक्ष्य में रखकर सतर्क और सज्ञान प्राणी, स्त्री हो या पुरुष, पूछ सकता है कि 'फिर अन्ध विश्वास है क्या?' इस प्रश्न का उत्तर देना इस निबन्ध का मुख्य उद्देश्य है। अब मैं अगले पृष्ठों में अन्ध-विश्वास की

अपरोक्ष स्पष्ट परिभाषा करने के बाद उदाहरणों के द्वारा पाठकों को बतलाऊँगा कि अन्ध विश्वास क्या है।

१—जीते जागते प्रमाणों की उपेक्षा करके या विना प्रमाण के ही किसी बात को सत्य मान लेना।

२—एक पहेली को दूसरी पहेली से बूझना। जैसे, डाक्टर वैरो से किसी ने पूछा—"ईमान क्या है?" Quod est fides?

उसने उत्तर दिया—जो तू नहीं देख सकता। Quod non vides?

इस प्रकार के प्रश्नोत्तर उपनिषदों में भी पाये जाते हैं। प्रायः साधु और ज्योतिषी इसी प्रकार के उत्तर दिया करते हैं। यही पहेली का पहली से बूझना है।

३—कार्य्य और कारण-सम्बन्ध की उपेक्षा करना।

४—यह मान लेना कि कोई अ-वस्तु पदार्थ (मन, विचार, इच्छा और शक्ति-इनमें से चारों या कोई एक) संसार का नियन्त्रण करता है या संसार को बनाता या बिगाड़ता है।

५—यह समझना कि विना वस्तु के मन की ही कल्पना से जगत् बन गया। यानी शून्य से सब कुछ बना या प्रादुर्भूत हुआ।

६—यह समझना कि पुरुष, बल या फोर्स (force) के विना और उससे भिन्न प्रकृति (वास्तविक जगत्) का अस्तित्व है। अथवा इसके विपरीत यह समझ लेना कि प्रकृति के

अस्तित्व बिना या उससे भिन्न फोर्स, बल या पुरुष का अस्तित्व है।

७—अनेक प्रकार की अलौकिक-अनहोनी बातों को मान लेना। जादू, मन्त्र, चमत्कार, आदि अलौकिक (Super-natural) शक्तियों पर विश्वास करना।

इस परिभाषा में हम और भी वृद्धि कर सकते थे, लेकिन शेष सब का समावेश इनमें हो जाता है, इसलिए इतना ही लिखना पर्याप्त समझा गया। याद रहे कि अन्ध-विश्वास के जनक और जननी भय और मूर्खता हैं और इनकी सन्तति घोर दुःख है। अन्ध-विश्वासियों को पद-पद पर घोर दुःख उठाने पड़ते हैं।

जब कोई स्त्री रोटी बनाते-बनाते किसी गीली लकड़ी से फुड़फुड़ की आवाज़ निकलती देखती और सुनती है, तो वह कह उठती है—'थू, थू, कोई दुष्टा मेरा चबाव कर रही है।', भोली-भाली स्त्री नहीं समझ सकती कि गीली लकड़ी से गर्मी पहुँचने के कारण उसके भीतर का पानी निकल रहा है। लकड़ी के फुड़फुड़ाने और चबाव करने में कोई कार्य-कारण सम्बन्ध नहीं है। इसी प्रकार और भी अगणित मिथ्या कल्पनायें होती हैं, जैसे तवे से रोटी फिसलने पर अतिथि के आने की, अंग फड़कने पर भला या बुरा होने की और हथेली खुजाने से धन मिलने की कल्पना बहुधा लोग किया करते हैं। यही अन्ध विश्वास है।

एक आदमी घर से कहीं को चलता है और दरवाजे से निकलते ही उसे एक आदमी सामने की ओर से लकड़ी लिए नजर आता है, अथवा कोई काना मिल जाता है, तो वह समझता है कि शकुन बहुत बुरा हुआ। जलसे भरा घड़ा लिए कोई मिल जाता है तो मान लेता है कि शकुन अच्छा हुआ। लोग यह नहीं समझते कि कोई शकुन या अपशकुन प्रकृति के प्रवाह को रोक नहीं सकता, न कोई नया कार्य्य या कारण प्रकृति में उत्पन्न कर सकता है और न इन शकुनों या घटनाओं में कोई कार्य्य-कारण सम्बन्ध ही स्थापित कर सकता है। कितने ही नादान इन शकुनों के कारण अपनी यात्रा या दूसरे कामों को रोक देते हैं, और बहुधा हानि उठाते हैं।

बहुतेरे आदमी नीलम, पन्ना, हीरा मूँगा लहसुनिया आदि रत्नों; घड़ियों, दिनों, महीनों और अनेक प्रकार के चिन्हों के साथ दुर्भाग्य और सौभाग्य का नाता जोड़ देते हैं। हजामत बनवाने, कपड़ा बदलने, नया गहना या कपड़ा पहनने, और आने-जाने के लिए कुछ लोग किसी-किसी दिन और नक्षत्र को लाभदायक और किसी-किसी को हानिप्रद समझते हैं। यह नहीं सोचते कि दिन वेला और नक्षत्र आदिका हमारे खाने-पहनने और रहने-सहने के साथ कौन सा प्राकृत सम्बन्ध हो सकता है। मङ्गल का पहना हुआ नया कपड़ा क्यों जल्दी फट जायगा और सोमवार का पहना हुआ क्यों बहुत दिन तक चलेगा? शनिवार को धारण किया हुआ आभूषण क्यों चोरी

चला जायगा ? इन दिनों या नक्षत्रों का चोरों के साथ कौन सा सम्बन्ध है ? कब इनमें परस्पर इस प्रकार का कण्ट्राक्ट हुआ ? क्या चोरों और दिनों के साथ कण्ट्राक्ट होना सम्भव है ? परन्तु लोग इन बातों पर ध्यान नहीं देते। यही कारण है कि प्रत्येक मनुष्य के साथ कुछ न कुछ अन्ध विश्वास की मात्रा लगी हुई देखने में आ ही जाती है।

ईसाइयों में तेरह आदमियों के साथ बैठकर भोजन करना अशुभ समझा जाता है। क्यों ? खाने और तेरह की संख्या से क्या सम्बन्ध ? बहुत लोग शुक्रवार को अशुभ मानते हैं, परन्तु मुसलमान इसे शुचि और पुनीत समझते हैं। इसी तरह यहूदी शनिवार को और ईसाई रविवार को पवित्र मानते हैं। किन्तु हमें तो शुभाशुभ से शुक्र, शनि या रवि का कोई भी सांसारिक सम्बन्ध नजर नहीं आता।

आज भी भारत में ऐसे अगणित स्त्री और पुरुष पाये जाते हैं जो समझते हैं कि सूर्य्यग्रहण और चन्द्रग्रहण से राजा और प्रजा को असीम हानि पहुँचती है, दुर्भिक्ष होते हैं; पुच्छल तारा के निकलने से महामारी फैलती है; श्रावण की प्रतिपादा को बूंद पड़ने से चन्द्रमा के चारों ओर मण्डल पड़ने से वृष्टि अच्छी होती है। इसी तरह शुक्रास्त में यात्रा करना और केतुका उदय होना अनेक कामों के लिए अच्छा नहीं होता। ये लोग तारा टूटने से काँप उठते हैं। भूकम्प आने पर भय के मारे प्रार्थना में प्रवृत्त होजाते हैं। यह सब अन्ध-

विश्वास के ही प्रमाण हैं। इस बात का किसी ने अबतक कारण न बतलाया कि क्यों किसीको हाथ में नमक देना बुरा है और खाँड़ देना बुरा नहीं ; स्याही का गिरना शुभ और सिरके का गिरना क्यों अशुभ है ?

यदि नाटक की रंगभूमि में पहला आदमी भिंगा अर्थात् तिरछा देखनेवाला कहीं आगया तो पाश्चात्य देशों के लोग समझ लेते हैं कि नाटक में कृतकार्य्यता न होगी और दर्शक बहुत थोड़ी संख्या में आयेंगे। यह समझना बहुत दुस्तर है कि कैसे प्रथम आनेवाले दर्शक की तिरछी दृष्टि की विशिष्टता जनता के मनों को उनके घर बैठे बदल देती है जिससे वह नाटक देखने के लिए आने से रुक जाते हैं, अथवा बहुत ही कम संख्या में आते हैं, दर्शकों के न आने का विचार कैसे सब से पहले भिंगे को ही नाट्यशाला में भेज देता है। प्रत्यक्ष में तो इन दोनों घटनाओं में कोई कार्य्य-कारण-सम्बन्ध नहीं देखा जाता।

इसी प्रकार हज़ारों ही शुभाशुभ बातें, शकुन, पूर्व सूचनाएँ और भविष्यत् वाणियाँ हैं जो बड़े-बड़े दूरदर्शी समझदारों और विद्वानों को दंग और हैरान कर देती हैं। इन सब बातों को चातुर्य्य कहें या बेहूदगी या मूर्खता ?

क़ब्रों, समाधियों, वृक्षों, पशु-पक्षियों की पूजा से, गण्डे-तावीज़ों के बाँधने से, अच्छे लोगों के बाल, दाँत, नख चिता

या छूनी की भस्मसे कैसे कोई घटना हो या रुक सकती है ? सियार सिंघी, हत्था जोड़ी, बाघनख पहरने से कैसे बीमारियाँ भाग जायँगी, दाम्पत्य प्रेम बढ़ेगा और बालक अभय हो जायँगे, यह कोई नहीं समझा सकता।

सय्यदों, भूतों, प्रेतों और चुड़ैलोंका आना, ब्रह्म और दूसरे राक्षसों का सताना किसी रोगी दिमाग़ने ही आविष्कृत किया होगा। इस आविष्कार के कारण अनेक उन्माद, मूर्च्छा, अपस्मार आदि के रोगी दवा से वञ्चित रहकर झाड़ने-फूँकने वालों के हाथों अकाल ही काल के कवल होते रहते हैं।

आज हम अपने भाग्य की वक्रोक्ति से बड़े-बड़े विद्वानों को ख़ास कर थियोसोफिकेल सोसाइटीवालों को देखते हैं कि वे स्वयम् इस अन्धकार के गढ़े में पड़कर जनताको भी मिट्टी में मिलाने और उसी अन्धकार के गढ़े में गिराने को तत्पर हो रहे हैं। एम० ए० और बी० ए० विद्या और बुद्धि की गठरी सर पर लादे हुए साधारण ज्ञान और तर्क को सलाम करके भूतों-प्रेतों का ही राग रात-दिन गाते रहते हैं और संवाद पत्रों के कालम के कालम इन्हीं बेसर-पैर की बातों से काले करने में आनन्द मानते हैं। जान पड़ता है कि जैसे शराबी शराब के पहले प्याले को हलक़ के नीचे उतारने के पहले सलाम करते हुए हमें यह सूचना देता है कि 'अक्ल रुख़सत मी शवद ई' अत्त बदाये होशस्त।' उसी तरह हमारे अनेक पढ़े-लिखे मित्र थियोसोफिकेल सोसाईटी में दाखिल

होने से पहले अपने तर्क, ज्ञान और बुद्धि को विदाई का सलाम करके अन्ध विश्वास में जीवन विताने का निश्चय कर लेते हैं।

क्या आज इस बीसवीं शताब्दी के वैज्ञानिक युग में सिवा वज्र मूर्खों के कोई भी समझदार, चतुर, पढ़ा-लिखा, जानकार आदमी विश्वास कर सकता है कि भूत, प्रेत, राक्षस, जिन डाकिनी, शांकिनी, यक्षिणी, पिशाचिनी, कूष्माण्ड, भैरव, भूमिया या सय्यद किसी रोगी को नीरोग करने की शक्ति सम्पन्न अस्तित्व रखते हैं? कुत्ते-बिल्ली के बाल, उल्लू के पर, गधा-लोटन-की धूलि, घोर काले कौवे के नीड़ की लकड़ी आदि के सद्गुणों-पर सिवा बिगड़े दिमाग़ों के कौन भरोसा कर सकता है? गण्डे-तावीज़ों, भूतों, प्रेतों का ढकोसला पुराने जमाने के अन्ध-विश्वासियों और असभ्य जंगलियों को ही ठीक जंच सकता था, पढ़ा-लिखा जानकार आदमी कब इनके भरोसे अपना जीवन नष्ट कर सकता है?

पहले जमाने में लोग मानलेते थे कि जनार्दन की धूप जलाने से भूत भाग जाते हैं, वया (पक्षी) का नीड़ घर में लटकाने से चुड़ैल नहीं आती, घुग्घू (उलूक) की आँखों को वत्ती में रख कड़ुए तेल का काजल बनाकर आँखों में लगाने से बच्चों पर टोना असर नहीं करता और धरती के अन्दर का गड़ा हुआ धन दिखलाई देने लगता है। आजकल विज्ञान के

प्रकाश में पले हुए लोगों के शुद्ध पवित्र मस्तिष्क में ऐसी बातों का प्रवेश कठिन होता जाता है। हमें चाहिए कि हम अशिक्षित ग्रामीणों और अन्धकार में पड़ी हुई स्त्री जाति के दिलों को अपने इस प्रकाशमय युग के ज्ञान के प्रकाश से प्रकाशित करें और अन्ध विश्वास के विषाक्त सर्प को मार कर गाड़ दें।

इन्हीं भूतों, प्रेतों और चुड़ैल आदि की मिथ्या कल्पना और विश्वास ने जादूगरों की सृष्टि की, ओझा, भोपा, सयाना प्रभृति लुटेरों को अवतरित किया। सेद सांई, अलफ सांई हुन्नू लाला, शेख सद्दो, नूना चमारी, कुएं वाला, पीपल वाला, भूमिया, मसानी वगैरा मूर्खों के उपास्यदेव बने और मन्त्र-यन्त्र-तन्त्र जादू के ज्ञाता बननेवाले दुष्ट ठग इनके पुजारी हो बैठे। इन ठगों ने धीरे-धीरे बुड्ढों को जवान बनाने, मारण, मोहन, उच्चाटन, वशीकरण के अनेक ढोंग रचे। कितने ही भोले-भाले लोग अलौकिक शक्ति प्राप्ति के निमित्त मुर्दों का सेवन करने लगे। चिताभस्म लगा कर नदियों के किनारे रातों मन्त्र जपने में प्रवृत्त हो उठे। मैंने अपने वैयक्तिक अनुभव से देखा है कि यह सब झूठे ढकोसले हैं। लेकिन फिर देखता हूँ कि बहुतों का विश्वास है कि भूतों के हाथ में सारे उत्तम पदार्थों के देने की शक्ति है। बुराइयों से बचनेवालों को जहाँ ईश्वर दूसरे लोक में पुरस्कृत करता है वहाँ भूत-पिशाच इसी लोक में सब कुछ दे देते हैं। इस अन्ध विश्वास के कारण मनुष्य जाति ने जो

जो कष्ट उठाये, और जो कष्ट उठा रही है उसकी कल्पना करना बहुत कठिन है। इसी अन्धविश्वास के प्रताप से गोस्वामी तुलसीदासजी की भाँति न जाने कितने बालक-बालिकाओं को उनके माता-पिता बाल्यकाल में ही घर से बाहर फेंक आये, राज्यों ने न जाने कितने पुरुषों और स्त्रियों को जीता जला दिया या पानी में डुबाकर मार डाला, केवल यही समझकर कि यह जादूगर और डाइन हैं, इनसे मनुष्य जाति को असीम हानि पहुँचती है। इसी विचार से अनेक मनुष्यों को कारागार-वास कराया गया और विविध प्रकार की यन्त्रणायें दी गईं। इन सबका दायित्व अन्ध विश्वास पर ही है। किसी देश का भी इतिहास हम देखें ऐसी घटनाओं-से ख़ाली न मिलेगा। मुसलिम और ईसाई धर्म के इतिहास भी इस प्रकार की घटनाओं से भरे पड़े हैं। ईसाइयों के नये और पुराने दोनों अहदनामे हमारे इस कथन के साक्षी हैं। मिस्र की गाथा, मूसा के काम और मसीह का मनुष्य पर से भूतों को उतार कर शूकरों में प्रविष्ट करना आदि हम पुस्तकों में पढ़ सकते हैं।

क्या यह स्पष्ट नहीं है कि ये सब भयानक कुकृतियाँ अन्ध-विश्वास के कारण हुईं, मनुष्य जाति की इन सारी वेदनाओं और दुःखों की जड़ अज्ञान और मूर्खता थी, और है। डाइन और जादूगर कभी भी न थे और न अब हैं। मनुष्य

कदाचित् पिशाचों से सौदा नहीं कर सकता। हमारे पूर्वज इन बातों में भारी भूल के शिकार थे।

हमारे पूर्वज और बहुतेरे मूर्ख आज भी चमत्कारों मोजज़ों और करामातों अर्थात् अलौकिक, अनहोनी शक्तियों पर लट्टू थे और हैं। ऐसे लोगों को सदा ही अनहोनी बात की तलाश रहती है। यही कारण है कि तमाम धर्म ग्रन्थ अप्राकृत बातों और कल्पित घटनाओं से भरे पड़े हैं। इनकी दृष्टि में संसार जादूमय है। मृतात्माओं को नचाना बाजीगरों के बाएँ हाथ का साधारण खेल है। आजकल भी लोग सुधरे हुए रूप में मृत आत्माओं के बुलाने और उनसे बात-चीत करने का प्रपञ्च रचकर केवल भोली-भाली जनता की ही आँखों में धूल नहीं डालते, बल्कि बहुधा पढ़े-लिखे लोगों को भी मन्त्रमुग्ध कर लेते हैं। क्योंकि इस छलपूर्ण जादूगरी का ढोंग रचनेवाले स्वयम् पढ़े-लिखे होते हैं, वाक्पटु और सुलेखक होने के साथ ही साथ इनमें चालबाजी का कौशल पिछले समय के लोगों की अपेक्षा बहुत ज़्यादः होता है। तथापि सचेष्ट, तर्कशील, सत्यान्वेषी लोग जानते हैं कि इनकी दिखलाई हुई घटनाओं के पीछे कोई नैसर्गिक कारण नहीं होता और न लोग यही मानते हैं कि किसी भी प्रेतसिद्ध या यक्षणीसिद्ध ने जो चाहा हो वही तत्काल हो गया हो। पैशाची विद्या का ज्ञाता, जिसने अपने को पिशाचों के हाथ बेच दिया हो, जहाँ कुछ इधर-उधर की हरकत करता या कुछ अर्थहीन शब्द बुड़बुड़ाता है कि घटना

झटपट प्रघटित हो जाती है। अन्धविश्वासी गोस्वामी तुलसी-दासजी रामायण में लिख मारते हैं किः—

अनमिल अक्षर अरथ न जापू।
प्रगट प्रभाव महेश प्रतापू।

संसार कार्य्य-कारण-सम्बन्ध को भूल कर छल, धोका, चालबाज़ी, और चमत्कारों का इस प्रकार ग़ुलाम बन गया है कि लोग झूठ बोलने से तनिक भी नहीं डरते। इतना झूठ का प्रताप लोगों में फैल गया है कि वे मिथ्या बातों को अपनी आँखों देखी घटना कहकर भोले-भाले मनुष्यों को बहकाने लगते हैं। आज भी ऐसे महापुरुषों का घाटा नहीं है जो सुनी-सुनाई गप्पों को अपनी आँख देखी होने की साक्षी देने में नहीं हिचकते।

चमत्कार क्या है? इसका उत्तर सिवा इसके और कुछ नहीं हो सकता कि 'चमत्कार या करामात या मोजज़ा वह है जिसका किसी भी प्राकृतिक (सच्ची) बात से कुछ भी सम्बन्ध न हो, तर्क, ज्ञान, बुद्धि और कार्य्य-कारण-सम्बन्ध का जिसमें दख़ल न हो और प्रकृतिका बनावटी स्वामी जो जी चाहे झट कर डाले। ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती दीवार पर सवार होकर कहने लगे 'दीवार चल' और दीवार चल पड़ी, कमालख़ाँ हाथी पर बैठे-बैठे हाथी सहित कुएँ में समा गये और चैन से रहने लगे, अमुक महाशय ने चाँद की ओर उँगली करके

हिलाई और चाँद फटकर दो टुकड़े हो गया, अमुक पीर साहब या सन्त महाराज ने दातोन करके फाड़ी और ज़मीन में गाड़ दी, उसी से बड़ा भारी छायाप्रद नीम का पेड़ खड़ा हो गया। अमुक महाशय ने बच्चे को पेट में ही सारी विद्या पढ़ा दी, अमुक स्त्री की नाक से ही बेटा पैदा हो गया, अमुक हजरत का कलेजा फाड़ कर फरिश्तों ने दिल निकाल लिया और पानी से धोकर जहाँ का तहाँ रख दिया और वे तुरन्त चल निकले। इसी तरह के लाखों गपोड़े प्राचीन धर्म पुस्तकों में भरे पड़े हैं। आज कल भी बहुत से नादान इन बातों को प्रेम से सुनते हैं, और उन्हें अक्षरशः सत्य मानकर उनपर अहमित होते हैं।

सार यह है कि उपर्युक्त 'सरजरी' की तरह जो कोई दो और दो पाँच करके दिखा दे तो वह पाटीगणित का चमत्कार है, यदि कोई ऐसा वृत्त बना दे जिसका व्यास परिधि के बराबर हो तो वह रेखा गणित का चमत्कार है, अगर कोई बिना अवलम्ब के दण्ड यन्त्र को चला दे तो वह यन्त्र-शास्त्र का चमत्कार है। इसी तरह गति-विज्ञान का चमत्कार होगा यदि कोई एक पत्थर आकाश की ओर ऐसा फेंके कि उसकी गति पहले पल में ५ फोट, दूसरे पल में १० फीट और तीसरे पल में १५ फीट हो। रसायन शास्त्र का चमत्कार है, "पारस परसि कुधातु सुहाई," आँखों में एक ख़ास अंजन के लगाते ही सारे संसार के धरती में गड़े खजानों का दीख जाना आदि प्रसिद्ध गप्पें चमत्कार के ही नाम से प्रसिद्ध हैं। इन्हा

सब बातों का विश्वास मनुष्य को करना चाहिए। जिस धर्म्म में जितनी ज्यादः ऐसी गप्पों की भरमार हो, वह धर्म्म उतना ही अधिक सच्चा और उच्च कक्षा का समझा जाना चाहिए। यह सब खुराफ़ात सिवा अन्ध-विश्वास के और क्या है?

सबसे बड़ी बात जो प्रत्येक सच्चे, धार्मिक और विश्वास वाले पुरुष में होनी चाहिए, वह शायद यह है कि वह अपनी प्रज्ञा को नमस्कार करके दूर हट जाय; प्रकृति के नियमों के ज्ञान को अज्ञान कहकर और मूर्खता मानकर आराम से बैठा रहे। लेकिन हम क्या करें, हमारे वर्तमान युग का ज्ञान हमें कुछ और ही बातें बता रहा है। हम प्राकृतिक नियमों को अटल समझने लगे हैं, नैसर्गिक नियमों में साम्य और सामञ्जस्य देखते हैं। हमारा विश्वास हो गया है और प्रत्यक्ष प्रमाण के आधार पर हुआ है, कि वस्तुओं में कार्य्य और कारण सम्बन्ध उनके स्वभाव के अनुसार होते हैं। वस्तु के स्वभाव को कोई बदल नहीं सकता। समान दशाओं में ठीक एक समान फल हमें सर्वत्र देखने में आते हैं। जहाँ कोई अन्तर मिला कि हम उसका नवीन कारण सोचने बैठ जाते हैं। हम जानते हैं कि जैसी वस्तु होती है, उससे वैसे ही दूसरे आकार-प्रकार की वस्तु बन सकती है। यह नहीं हो सकता कि 'कुछ नहीं' से सारा संसार बन जाय। अव्यक्त भाव से कोई वस्तु व्यक्त नहीं होती। प्रकृति में कोई कार्य्य निष्फल नहीं जाता और प्रत्येक कार्य्य का कारण होता है। सुतराम्, कोई भी समझदार

आदमी चमत्कारों का विश्वास नहीं कर सकता, अनहोनी बातों को सत्य नहीं मान सकता। चमत्कार न कभी हुए और न हो सकते हैं, इसलिए कभी होंगे भी नहीं। मूर्खता के धरातल पर चमत्कारों और मोजज़ों के वृक्ष के बीज जड़ पकड़ते हैं और ज्ञान का प्रकाश लगते ही सूखकर नष्ट हो जाते हैं।

एक ओर तो हम भूतों, प्रेतों राक्षसों और पिशाचों की सृष्टि आसुरी शक्ति के नाम से किये बैठे हैं, दूसरी ओर दैवी शक्ति के नाम से देवताओं और फरिश्तों का आविष्कार करते हैं।

इन देवताओं, फरिश्तों और मुअक्कलों के भी जप होते हैं, इनके नामसे भी गण्डे-तावीज़ बनाये और दिये जाते हैं। माला जपने, उपवास करने से; एक समय खाने या किसी दिन किसी विशेष पदार्थ के खाने या न खाने से यह देवता प्रसन्न हो जाते हैं। इसके विपरीत आचरण से वह अगर अप्रसन्न नहीं होते तो उदासीन अवश्य रहते हैं। कोई देवता गुड़ के पुए से राजी होता है, कोई चने की दाल से, कोई जौकी रोटी से, कोई तेल में पके हुए उड़द के बड़ों से, कोई मद्य से और मांस से। कहाँ तक गिनाया जाय, इन देवताओं की लीलाओं, इनके खान-पान के पदार्थों, इनके पसन्द के रंगों और कपड़ों, तथा इनकी अनुकूल क्रीड़ा-भूमियों के वर्णन से अगणित पुस्तकें भरी पड़ी हैं। आप 'या बुद्धू' सिद्ध करने जायँ तो किसी मौलवी साहब से पूछिये कि क्या करना लाजिम है,

आपको दुर्गा या यक्षणी सिद्ध करनी है तो ओभाजी की शागिर्दी करें, यदि 'ऐवराका डेवरा' यन्त्र भरना हो तो रोमन कैथोलिक, पादरी के शिष्य बनें। अगणित मुश्किल और असीम देव-देवी की भरमार है, प्रत्येक के ऊपर एक एक पुस्तक या निबन्ध आपको मिलेगा।

अयाना बच्चा जो कहीं चारपाई पर सोते-सोते या खेलते-खेलते एकाएक हँस या रो पड़ा तो जान लिया जाता है कि उसको बौरही (पगली) देवी खिला रही है। कान में दर्द होते ही आटे का कान बना कर बाबा सालार हांस को चढ़ाने की व्यवस्था की जाती है। मस्जिदों में ताक भरने, मजारों पर चिरागी, फूलमाला चढ़ाने, मलीदा, शीरा-पूरी मन्दिरों में भेंट करने से यह अच्छे देवता राजी हो जाते हैं। मेरे पास न इतना समय है, न इतना इस निबन्ध में स्थान, न इतना साहस कि कोटि-कोटि देव-देवियों की पूरी दास्तान पाठकों को भेंट करूँ। 'थोड़हिं मा जनहँहिं सयाने।'

कभी-कभी इन भूठे और निष्प्रयोजन दास्तानों से जी को बड़ा दुःख और घृणा होती है। देखिये तो 'भैरव' बाबा का गण्डा पहनने से भैरव बाबा हरदम बच्चों की रक्षा करते हैं। इसी प्रकार और अनेक बाबा, दादी और माताएँ हैं जिनका काम न केवल बच्चों की ही चौकीदारी करना है किन्तु अपने हर एक गण्डाधारी की रक्षा करना उनका एकमात्र काम इस दुनिया में है। कौन कह सकता है कि अगणित लोगों की जो

अगणित स्थानो में रहते हैं, जुदा-जुदा दिशाओं में चलते फिरते और काम करते हैं; उनके साथ एक 'भैरव बाबा' सदा साथ फिरता और चौकीदारी करता होगा।

इन देवताओं के पुजक्कड़ भक्तों और कथक्कड़ पुजारियों का कहना है कि वह अपने भक्तों, और गण्डाधारियों की छाती पर गड़े तीर और तलवार को पानी कर डालता है, इन पर बन्दूक या तोप का वार हो तो गोला-गोली बीच में ही ठण्डे होकर गिर जाते हैं। ये देवता लोग अपने प्रेमियों की हज़ारों तरह से रक्षा करते हैं। इन देवों के शुद्ध हृदय विश्वासी भक्त हलाहल विष भी पी लें तो कुछ असर न हो। ये पवित्र आत्माओं के मनों का संशय दूर करते हैं, उनके मनों में श्रद्धा और भक्ति का बीज बो देते हैं, साधुओं को स्त्रियों के फन्दों से बचाते हैं। इन देवताओं के नाम पर जो व्रत, उपवास, पूजा, अर्चा और प्रार्थना करता है, उसे स्वर्ग में बड़ी-बड़ी हवेलियाँ, सुन्दर-सुन्दर हरे-भरे बाग़-बगीचे, धन-धान्य से परिपूर्ण भाण्डार मिलते हैं। इनके भक्तों को वासनाएँ नहीं सता सकतीं, न इन पर आसुरिक कोप का ही कोई प्रभाव पड़ सकता है। इन देवताओं के भक्तों की रक्षा—नर हो या नारी, बालक हो, या वृद्ध साधु हो या साध्वी सबकी रक्षा—स्वतः होती रहता है।

फिर इन देव-देवियों की जातियाँ है। कोई नर है, कोई नारी, कोई षण्ड, कोई बाल ब्रह्मचारी, कोई सद्गृहस्थ, कोई

जात दया की मूर्ति; कोई कोप का अवतार है। कोई तो ऐसा है, जो संसार में कभी प्रकट ही नहीं हुआ। किसीके दो हाथ, दो पैर हैं और बहुत से अनेक हाथ-पैर वाले हैं। बहुतों के केवल सर ही है, धड़ नहीं, किसी-किसी के केवल धड़ है सर नहीं। महादेव बाबा के गणों की चित्रावली देखनी हो तो तुलसीकृत रामायण ही एक बार पढ़ लीजिये। इनमें कोई मीलों चौड़े पेटवाला मिलेगा, तो कोई सूत के तार से भी पतला-दुबला, किसीके सर में आँख ही नहीं, और किसीका सारा शरीर आँखों से ही भरा पड़ा है। किसी के एक, किसी के दो, किसी के तीन, किसी के ४-५-६-७-८-६ और १० तक सर हैं, तो किसी के सिरों की गिनती ही करना कठिन है। किसी-किसी देव महाशय की मूंछ ११२ मील लम्बी है। अगर अमरीका की सबसे अधिक तेज चलनेवाली रेल गाड़ी पर सवार होकर इनकी मूंछ के सिरे की खोज करने निकलें, तो १४ योजन अर्थात् ११२ मील चलने के लिये ६० मील प्रति घण्टे के हिसाब से भी करीब सवा घण्टा लग जाय। इतनी लम्बी डाढ़ी-मूंछ वालों के रहने के घर कैसे होंगे? छोटे-मोटे असंख्य जीव इनकी डाढ़ी और मूंछों में फँसकर मर जाते होंगे, बहुतेरे पक्षी इनमें अपने घोंसले बना लेते होंगे। अनेक सरवालों को सोने में, सिर दर्द और सर्दी लग जाने में कितना कष्ट और कितनी असुविधा होती होगी, इसको पाठक आप ही सोच लें। अस्तु, इन बातों को छोड़ देने पर भी,

यह समझ में नहीं आता कि यह लोगों के मनों का हाल कैसे जान लेते हैं? ये क्या हैं, कैसे हैं, कैसे स्थानान्तर में दौड़े-दौड़े फिरते हैं? इन प्रश्नों का भी ऐसा उत्तर इनके भक्त, पण्डे और पुजारी नहीं देते, जिससे किसीकी तर्कशील और सत्यान्वेषिणी बुद्धि को सन्तोष हो।

लोग कहते हैं कि फरिश्तों और देवताओं का राजा अल्लाह मियां या परमेश्वर है और दुरात्माओं का राजा शैतान या असुराध्यक्ष। फिर यह भी कहते हैं कि सबका मालिक सबका बनानेवाला वही एक परम पिता परमात्मा या अल्लाह ही है। तब क्या देवासुर-संग्राम स्वामी और सेवक का युद्ध है, या पिता-पुत्र का विग्रह? जरा कुरान, पुरान और इञ्जील को उनकी टीका तफसीरों के साथ पढ़ें और प्रत्येक गाथा को ध्यान से अध्ययन और मनन करें तो अक्ल चक्कर में पड़ जायगी। कहीं-कहीं तो यह समझना दुस्तर ही नहीं, बल्कि असम्भव भी हो जाता है कि ख़ुदा बड़ा है या शैतान?-मनुष्यों का सच्चा हितैषी अल्लाह है या हजरते शैतानुलमुअज़्ज़म्? मेरे भाई यह न समझें कि मैं हाशिये चढ़ा रहा हूँ या एतराज़ों की ही ख़ातिर एतराज जड़ रहा हूँ, बल्कि हकीकत यही है जो मैं कह रहा हूँ। क्योंकि खुदाई पुस्तकों या आसमानी किताबों के पढ़ने से मालूम होता है कि अल्लाह मियां ने निश्चय कर लिया था कि आदम और उसकी औलाद सदा सर्वदा लण्ठ, गँवार जाहिल और नातजुर्बेकार बनी रहे। तभी तो उसने

बुद्धि का वृक्ष उत्पन्न कर देने पर भी आदम को उस वृक्ष का फल खाने का कठिन निषेध कर दिया। लेकिन शैतान महाराज ने आदम को वही फल खिलाया, जिससे वह बुद्धिमान् हो गया और फल यह हुआ कि आज उसकी सन्तान संसार में विज्ञान का आश्चर्य दिखला रही है। उसके वैज्ञानिक कौशल की उन्नति ने धीरे-धीरे जल, वायु, पृथ्वी, आकाश और अग्नि सबको अपना वशवर्त्ती बना रखा है। अल्लाहमियां के आज्ञा-कारी फरिश्ते घोर मूढ़ता और अन्धकार में ही पड़े हैं। जो कहीं फरिश्ते भी बुद्धि-वृक्ष का पवित्र फल चखकर शैतान के शागिर्द बन जाते तो आज सड़क, नहर, डाकख़ाना, तार और रेडिओ का संबन्ध सहज ही हम लोगों के साथ जुड़ सकता था, लेकिन फरिश्तों, देवताओं या बहिश्तवालों में मनुष्यों की सी भी बुद्धि नहीं है। तब हम फिर पूछते हैं कि अल्लाह बड़ा या शैतान? हम मनुष्य (आदम की सन्तति, आदमी) ईश्वर के कृतज्ञ हों या शैतान के? मैं यदि अलौकिक शक्ति का मानने वाला होता तो निश्चय ही अल्लाह मियां का नाम भूल कर भी न लेता और शैतान के सुयश के गीत रात-दिन गाता और उसीकी नेकी का डंका पीटता।

हममें से बहुत से नर-नारियों का विश्वास है कि भजन, पूजन, व्रत, उपवास आदि से वे ईश्वर को और उसकी भक्त सेना देवताओं को प्रसन्न रखें तो उनसे हमें सब जगह, सब समय, सब तरह की सहायता मिले और हम बुराइयों

से भी बच जायँ। लेकिन ये बेचारे तर्कशास्त्रज्ञ नहीं या तर्क से काम लेना पसन्द ही नहीं करते, इसीलिए यह समझ भी नहीं सकते कि बुराइयों को बतानेवाला इनकी किताबों की ही साक्षी के अनुसार शैतान है, ईश्वर सबको सच बोलना सिखाता है, लेकिन फिर भी शैतान की बदौलत झूठ बोलने वालों की ही तादाद दुनिया में बहुत ज़्यादा है। इसी प्रकार और भी सैकड़ों बातें हैं जिनमें हज़रते ख़ुदा विवश, लाचार और परीशान फिरते हैं, कोई इनकी परवा तक नहीं करता। ईश्वर के बन्दे रात-दिन रोटी मांगते, रोग-रहित होने के लिए प्रार्थना करते हैं। हवन, पूजा पाठ, रोजे और निमाज में सर खपाते रहते हैं, परन्तु संसार में भूखों की संख्या दिन-दिन बढ़ती ही जाती है, नई-नई बीमारियाँ और महामारियाँ घेरती ही चली आ रही है, और वायु शुद्ध होने के बदले गन्दी ही होती चली जाती हैं। लोग ख़ुदा ख़ुदा पुकारते रह जाते हैं और शैतान बराबर अपना काम बनाता और ख़ुदा को हर क़दम पर शिकस्तफ़ाश देता चला जाता है। अगर मनुष्य कृतज्ञ बनता और शैतान का अहसान मानता और उसीके पास अपनी दरख़ास्तें ले जाता तो शायद उसका ज़्यादा भला होता। मगर हमें तो इस नेक मिजाज इन्साफ़ दोस्त शैतान की भी बूदबाश का कोई ठीक पता नहीं चलता, वरना मैं अपनी दरख़ास्तें उसीको भेजता। करीने से ऐसा मालूम होता है कि शैतान की नज़दीकी अगर किसीको हासिल है तो वह

सौभाग्यवती न्नितानियाको है। यह लीला है अज्ञान-तिमिराच्छा-दित अन्धविश्वासी संसार की जिसे अपने कानों का विश्वास आँखों से लाखों गुणा अधिक है।

हमारे पूर्वज भी अन्ध विश्वास के ही गर्त में पड़े-पड़े चले गये। यदि इनमें विज्ञानवेत्ता लोग अधिक होते तो समझते कि प्रकृति क्या है और प्रकृति के नियमों को भी कुछ जानते, सुनते, देखते और कार्य-कारण-सम्बन्ध का पता लगाते। भूतों, प्रेतों, देवताओं, मुअक्कलों और फरिश्तों पर ही सारे संसार का दारमदार न रखते। इनके पास तर्कशील बुद्धि होती तो यह समझ लेते कि यदि देवता और फरिश्ते हों भी तो उनकी बुद्धि हम मनुष्यों से कहीं कम है, और ये पशुओं से अधिक महत्व की चीज़ें नही हैं। यदि उनमें मनुष्यों से अधिक शक्ति, ज्ञान या कौशल होता तो इतने लम्बे समय के बीत जाने पर ये कम से कम एक छोटा सा डाकख़ाना ज़रूर ही खोल देते, एक तार घर भी उनकी कोशिश से स्थापित हो गया होता। इस दुनिया के लोग रात-दिन उधर का संवाद पाने को व्यग्र और अपना संवाद भेजने को चिन्तित रहते हैं और प्रयत्न भी करते हैं परन्तु कोई भी ठीक उत्तर नहीं मिलता। अगर हमारे देवाराधन करनेवाले लोग या शैतान से भयभीत रहनेवाले भाई ठीक पता-निशान बतलाते तो हमीं लोग एक फोर्थक्लाश डिस्ट्रिक्ट रोड तैयार कर लेते; फिर धीरे-धीरे उसकी उन्नति होती रहती। लेकिन वह तो

सारा अन्ध-विश्वास है, इसमें कहीं भी सचाई की झलक नज़र नहीं आती।

जिनके सर में समझ है, जिनके मस्तिष्क में तर्क का प्रकाश है, जो लोग सचाई की खोज करना अपना कर्तव्य समझते हैं, जो प्रमाणों का मोल-तोल जानते हैं, वे कदाचित् भी चमत्कारों; पर्चों आदि अलौकिक बातों पर विश्वास नहीं कर सकते, न वे शुभ-अशुभ दिन की परवा और शकुन-अशकुन की चिन्ता ही कर सकते हैं। समझदार हृदय जानता है कि सब वार वेला एक समान हैं, तीन और चार या बारह और तेरह में से एक क्रूर और दूसरा सौम्य नहीं हो सकता। जैसा हीरा, मोती या काँच के टुकड़े का पहनना मनुष्य पर असर करता है वैसा ही नीलम और लहसुनिया भी। टेढ़ी माँग निकालने से न लड़की को पति टेढ़ा या सास, श्वसुर लड़ाके मिलते हैं और न टेढ़ी टोपी लगाने से पुरुष के वैवाहिक-सुख में अन्तर पड़ सकता है। बुद्धिमान् जानता है कि पूर्णिमा की रात को उल्लू इस वास्ते हू! हू!! नहीं करता कि कोई प्रतिष्ठित पुरुष मर जाय या वह मरनेवाला है, जिसकी प्राक् सूचना करने का कर्तव्य उल्लू के सिर पड़ा है। हमारा विवेक बतलाता है कि चाहे संसार मनुष्यों से ख़ाली हो जाय; चाहे उसके निवासी नर-नारी सद्गुणी हो जायँ धूम्रकेतु उदय होगा ही, ग्रहण पड़ेंगे हीगे, तारे टूटते रहेंगे, उल्लू का बोलना बन्द न होगा और प्रकृति के सारे काम

ज्यों के त्यों होते रहेंगे। इनको किसी का मरना या जीना रोक नहीं सकता, न यह किसी के मरने जीने में बाधक हो सकते हैं।

विकारहीन मस्तक भूत, प्रेत, चुड़ैल, शैतान और देवताओं की हस्तीका इनकारी है और अलौकिक शक्तिसम्पन्न जन्तुओं की कथाओं को गप्प समझता है। उसे मालुम है कि भूमिया, परा, छलावा, देव, जिन, डाकिनी, शाकिनी, यक्षिणी और मुअक्किल सभी रोगी मस्तकों की कल्पना, भयभीत अज्ञानियों का ख्याल ही ख्याल है और कुछ नहीं। बुद्धिमान जानता है कि ये बातें कभी भी विज्ञान की कसौटी पर खरी नहीं सिद्ध हुईं, अतः इनसे बचना और बचाना मेरा धर्म है।

देखिये, प्राचीन धर्म प्रधान युग में धरती चपटी और चौकोर या कुम्हार के चाक के समान गोल थी, इसके सिरकी ओर अर्थात् ऊपर को आकाश में सबसे ऊँचा स्थान ईश्वर का था, इसके नीचे देवता निवास करते थे, देवताओं के नीचे क्रमशः नीचे की ओर और और जाति के लोग रहते थे, क्योंकि आकाश सात भागों में विभक्त था। मुसलमानों का विश्वास था कि खुदा अर्श-मुअल्ला पर, मुहम्मद कुर्सी पर; मसीह चौथे आसमान पर अपनी अपनी हवेलियों में रहते थे। स्वर्ग का दरवाज़ा बन्द रहता था। मुहम्मद साहब के पधारने पर स्वर्ग के दारोगा रिजवान ने उसका ताला खोलकर हजूर को सारे बहिश्त की सैर कराई। मौलवी शहीद ने अपने

मौलूद में एक जगह लिखा है—'यों कहके वहीं खोल दिया क़ुफ़्ले दरे चर्ख़े कुहन'। अर्थात् मुस्तफा का स्वागत करते हुए पुराने आकाश का ताला खोल दिया, जैसे सुपरिण्टेण्डेण्ट के आने पर जेलर जेल का ताला खोल देता है। हिन्दू-शास्त्र कहते हैं कि ऊपर सात्विक लोग जाते हैं, बीच में राजस वस्ते हैं और तामसी नीचे पड़े रहते हैं। याद रहे कि प्राचीन काल में ज़मीन की भी सात तहें थीं और एक एक तह में एकएक लोक वसता था। इन लोकों में कई प्रकार के नरक थे, यहाँ ही किसी एक लोक में पितृगण रहते थे, लेकिन आजकल ज्ञान के प्रकाश ने सारे तिलस्मात का सत्यानाश कर डाला, विज्ञान के जादू ने सारी बाज़ीगरी का भेद खोलकर धर दिया।

अब ऋषिराज के कमण्डल में डाली हुई मछली इतनी मोटी ताज़ी नहीं हो सकती कि सारे संसार के पानी को घेर ले और न इतने ज़ोर का तूफान ही आ सकता है कि हज़रत नूह को डूबती हुई दुनिया को बचाने के लिए बीज की भाँति एक एक ज़ोड़ा सारे संसार के प्राणियों का नावपर धरकर सुरक्षित रखना पड़े। क्योंकि अब लोग समझ गये हैं कि मछली के मोटेपन की हद है और जो तूफान संसार को घेर लेगा वह एक नावको बाकी नहीं छोड़ सकता। इन दन्तकथाओं और बे-सिरपैर के गपोड़ों के दिन दूर गये और बहुत दूर गये। यदि कोई इस ज्ञान के युग में भी इन बातों पर विश्वास करता है तो मैं समझता हूँ कि उसे किसी अच्छे

सुप्रबन्धयुक्त पागल खाने की कोठरी में आराम करने की बहुत जरूरत है।

धार्मिक युग में पुरोहित-मण्डल स्वर्ग और नरक का सारा हाल जानता था, गृहस्थों के दिये हुए अन्न-वस्त्र वगैरह सारी चीज़ों को उनके पूर्व पुरुषों के पास बड़ी चतुराई; सावधानी और ईमानदारी के साथ पहुँचा देता था। आज भी ऐसे पुरोहित हैं जो सारा सामान दाता के माता पिता के पास ठीक ठीक पहुँचा देने का दम भरते हैं और उनसे भी अधिक बुद्धि-शाली प्रतिभावान वह लोग हैं जो इस एजेन्सी के द्वारा लगा-तार थोड़ा-बहुत सामान रवाना किया करते हैं। परन्तु अब दिल में एजेण्ट समझता है कि यह मेरी धोखेबाज़ी है जो बहुत दिन न चल सकेगी, क्योंकि इनकी आमदनी पहले की अपेक्षा अब रुपये में आने भर भी नहीं रह गई। पारसल भेजने वाले महाशय भी समझने लगे हैं कि हमारी पारसलें बीच में ही मारी जाती हैं, और लोग सोलहों आने हजम कर जाते हैं। हज़ारों वर्ष हो चुके, आजतक एक की भी रसीद नहीं मिली। विश्वास की भी कोई सीमा है? पर हो क्या, बेचारे लकीर के फ़कीर, मूर्खा स्त्रियों के पिंजड़े की चिड़ियाँ जानबूझ कर नाक छिदाते हैं और कौड़ी पहनकर नाचते हैं। समय आ रहा है कि भारत में इन नाचनेवाले बन्दरों और मदारियों की कथा केवल पुस्तकों में रह जायगी। देखने को लोग तरसेंगे और कहेंगे—'सुनी इन्दर की सभा हमने कहानी में है।'

पादड़ी साहब फरमाते हैं कि शैतान मनुष्यों को लालच में डालता है, उसने मसीह को भी लालच में डालना चाहा था। परन्तु यही पादरी महाशय स्वयम् लार्ड्स् प्रेअर अर्थात् प्रभु का प्रार्थना में कहते हैं, "भगवन्! हमें लालच में न डाल (Lead us not into temptations)। जब खुदा भी मनुष्य को लालच में डालता है और शैतान भी, तो खुदा और शैतान में क्या अन्तर रहा? ये दो चीज़ें कैसी हुईं? यह पहेली बूझनी कठिन है। जान पड़ता है कि समय समय पर लोगों के सिर में जो भी आयँ-वायँ-सायँ समाया, वही उन्होंने लिख मारा और उनके अनुयायियों ने सब कुछ आँख बन्द करके मान लिया। किसी ने जाँच-पड़ताल का कष्ट उठाना उचित नहीं समझा। हमें तत्वार्थ सूत्र के कई अध्यायों में और अन्य ग्रन्थों में भी अनेक गपोड़े मिलते हैं; जिन्हें जैन भ्राता बड़े मजे में हलुए की तरह हलक के नीचे उतार जाते हैं। हम इस निबन्ध को पुस्तक बनाना नहीं चाहते, नहीं तो सभी धर्मों की गपोड़ कथाओं का खासा दिग्दर्शन कराना कोई बड़ी बात न थी। कहना यह है कि इस प्रकार की प्रमाणहीन बिना जाँची पड़ताली बातों को सत्य मान लेना ही अन्ध विश्वास है। सच तो यह है कि न कोई अच्छी बुरी अव्यक्त आत्माएँ हैं, न कोई संसार का स्रष्टा और नियन्ता है न कोई मनुष्य का अव्यक्त भ्रामक है; न कहीं इतिहास में ऐसी बातों का पता लगता है और न तर्क विज्ञान से उनकी पुष्टि होती

हैं। ये निर्मूल गाथाएँ हमारी समझ, हमारे ज्ञान, विचार और बुद्धि के वाहरकी हैं और बुद्धिहीनों को ही सोहती हैं।

सज्ञान मनुष्य को सामने आई हुई बातों पर सोचना और विचार करना चाहिए, हर बात की परीक्षा और पड़ताल करनी चाहिए; तर्क द्वारा उसके सत्यासत्य की छानबीन करनी चाहिये। जो बातों को सोचता विचारता नहीं; वह सज्ञान प्राणी कहलाने का अधिकारी नहीं है। विचार-शक्ति के होते हुए उससे काम न लेनेवाला आदमी आत्मवञ्चक है। जो स्वतन्त्रता-पूर्वक सोचने-विचारने और तर्क करने से डरता है, वह महाकायर है और अन्ध-विश्वास का क्रीत दास है।

हमारे सरल हृदय पाठक-पाठिकाएँ शायद कहें कि 'अन्ध विश्वास' से क्या हानि है? हम कहानी किस्सों को सत्य मान लें तो इससे क्या वनता विगड़ता है? वैद्य, हकीम और डाक्टर की दवा करते रहें साथ ही यदि गण्डे-तावीजों को भी गले में डाल लें, झाड़ा फूँकी भी कराते रहें तो कौन-सी वड़ी हानि है?

एक दिन मैं अपने एक संस्कृतज्ञ मित्र के साथ एक वारात में जा रहा था। मेरे मित्र ने कहा—यदि हम ईश्वर को जैसा संसार कहता है वैसा मान लें तो क्या हर्ज? जो ईश्वर नहीं हुआ तो कुछ नहीं विगड़ा और जो आगे चलकर ईश्वर निकला तो हम दण्ड से वच जाँयगे।' मैंने उत्तर दिया कि

कम से कम आप ईश्वर के अस्तित्व में सन्देह तो ज़रूर करते हैं, यह बात आपके शब्दों से ही प्रकट है।

इस प्रकार के प्रश्न करनेवाले, सरलगामी, सन्देह में जीवन बिताने वालों को मैं यही उत्तर दे सकता हूँ कि जो लोग दुनिया की खुराफातों को यही समझकर ठीक मानने और करने लग जायँ कि बात ठीक है तो ठीक ही है, अगर ठीक नहीं है तो भी हमारा इसमें हर्ज ही क्या है तो आदमी का दिमाग़ पागल-खाना बन जाय और उसका सारा समय इन्हीं कामों में नष्ट हो जाय और संसार केवल विक्षिप्तों के ही रहने के उपयोगी हो जाय। ऐसी बेहूदगियों में पड़ने से हमारा विवेक-शक्ति मन्द पड़ते पड़ते नष्ट हो जाती है, हम मनुष्यता से गिर जाते हैं; हमारे विचारों और कामों में दृढ़ता नहीं रह जाती, हममें कच्चापन पैदा हो जाता है; सचाई की खोज, अन्वेषण और आविष्कार की योग्तया क्षीण पड़ जाती है। कच्चे विचार और सरल-गमन, धोखा, छल और जाल के ही बराबर अनुभव और अनुभूत सत्य को भी स्थान देते हैं, गधे और घोड़े को एक समझ बैठते हैं, और कार्य कारण सम्बन्ध को भुला देते हैं। बे-पेंदी के लोटे से लुढ़कने वाले विचार के लोग प्राकृत नियमों को और प्रकृति के कामों को भूल बैठते हैं और प्रत्येक असम्भाव्यता और मूढ़ता के आगे भयभीत होकर गुलामों की तरह काँपते हुए खड़े रह जाते हैं, और सत्यासत्यका निर्णय नहीं कर सकते। सार यह कि

अन्ध-विश्वास का अनुगमन और सन्दिग्ध पथ का अनुसरण मनुष्य को विवेकहीन बना डालता है। बुद्धि पर प्राकृत ज्ञान का प्रकाश पड़ना बन्द हो जाता है, आगे की राह नहीं सूझती। प्रकृति अदृश्य, अज्ञात, अव्यक्त शक्ति के हाथ में कठपुतली की तरह नाचती नज़र आती है।

उमा दारु योषित की नाईं।
सबहि नचावत राम गुसाईं॥

कह कर मनुष्य अपने ज्ञान की उन्नति से हाथ धो बैठता है। अलौकिक शक्ति, यक्षिणी का माया दण्ड या बाजीगर की लकड़ी एक घटना को 'छू' करके उड़ा देती है, कार्य्यों के कारण का पता नहीं चलता, सारे कार्य्य प्राकृत कारणों से निरलवन्ध-से रह जाते हैं। मन की उमंग का साम्राज्य हो जाता है, विचार-स्वातन्त्र्य जाता रहता है, सत्यासत्य के विचार और विवेकपर पटाक्षेप हो जाता है, हवाई किले तय्यार होने लगते हैं, बेपरकी उड़ान भरती है, परदार जमीन पर गिरती नजर आती है, गुणों प्रमाणों, सम्बन्धों और फलों का साम्राज्य काफूर हो जाता है, तर्कशीलता और बुद्धि विदाई लेकर चल देती हैं और अन्ध-विश्वास का अखण्ड साम्राज्य हो जाता है। हृदय वज्र, समझ पत्थर, दिमाग पिलपिला होना, छाती का धड़कना अन्ध-विश्वासियों में अवश्यम्भावी है।

अन्ध विश्वास से संसार में समुन्नति की प्रगति रुक जाती है। मनुष्य की योग्यता, शारीरिक और मानसिक शक्तियाँ, अलौकिक

शक्तिकी सहायता की खोज में विरम कर अति विश्वास-प्रवणता, श्रद्धा जाड्यवशात् रीति-रिवाज, पूजा-पाठ, प्रार्थना, उपासना और वलिदान आदि की खुराफातों और वाहियातों में उलझ कर जहाँ की तहाँ ज्यों की-त्यों रह जाती हैं, पुष्पित, पल्लवित फलित और गुणित नहीं हो सकतीं। सचाई की खोज की इच्छा, मेधा- की दौड़, आविष्कार और अन्वेषण की कामना और सद्भाव खरगोश के सर का सींग होजाता है। नशे से वुद्धि का हरण होना वहुधा कहा और सुना जाता है किन्तु अन्ध विश्वास वुद्धि के अपहरण में नशे का दादा गुरु है। अन्ध विश्वास स्वतन्त्रता का शत्रु है। जो जाति इस महा रोग से निरामय नहीं होती वह स्वतन्त्रता नहीं लाभ कर सकतो।

अन्ध विश्वास ही देवताओं, फरिश्तों, दैत्यों, शैतानों, भूत-प्रेतों, जादूगरों, निशाचरों, शकुनज्ञों, ज्योतिषियों, नवियों और वलियों की प्रसविनी है। इसीने पोपों, महन्तों, पुजारियों, औलियों, योगियों, योगिनियों और पुहोहित-पुरोहतानियों को जन्म दिया है। सन्त, महात्मा, धर्म्मोपदेशक, शिक्षक, भिखमंगे, फकीर, साधू, सब इसीके वच्चे हैं। इसी दुष्ट अन्ध विश्वास-ने मनुष्य को मनुष्य के पैरों पर गिराया, पत्थर, वृक्ष पशु और पक्षियों के सामने हमें घुटना टेकना सिखाया, इसी की वदौलत साँपों की पूजा हुई, नरवलियाँ की गईं, वच्चों का वध किया गया, स्त्री वच्चों को दान किया गया, वेचा गया और त्यागा गया। शेख सद्दो की कड़ाही, कुवांवाले की चौकी, पीपलवाले-

की ध्वजा, जखैया, दुलहदेव और गूगा पीर के गुलगुले प्रभृत मूढ़ता के काम महामान्य महाराज अन्ध विश्वास के ही प्रताप के फल हैं।

अन्ध विश्वास ने मनुष्यों को सताने के अनेक यन्त्र निर्माण किए। इसकी दया से अगणित नर-नारियों की खालें खींची गई। लाखों जीते जलाये गये और करोड़ों जेलों में सड़ाकर मारे गये। ईसाई धर्म्म का इतिहास इस विषय पर अधिक प्रकाश डाल सकता है, मुसलमान भी ईसाइयों से बहुत पीछे नहीं है, और न हिन्दू ही इस महामहिम्न गुण से नितान्त कोरे हैं। धर्म्मान्धता के नशे में, पागलपन को ईश्वर की दया और प्रेरणा, विक्षिप्तों की जर्र और बहक को परमात्मा का ज्ञान समझने में लोग आज भी नहीं हिचकते, आप न मानें तो सटोरियों और अनपढ़ दीन-हीन किसानों और मजदूरों में बैठकर देख लें। कितने जुआड़ी, सट्टे, खेले, ठेलेवाले, बीमार और दुखी हरामखोर गँजेड़ियों भँगेड़ियों और शराबियों को सिद्ध बाबाजी मान अपना सर्वस्व उनको समर्पण कर देते हैं। बहुधा भोलीभाली स्त्रियाँ अपना सतीत्व भी खो बैठती हैं।

अन्ध विश्वास हमारा खान-पान छुड़ाता है, हमें अपने आपसे घृणा करना सिखाता है, हम सब बालबच्चों सहित भूके मरते हैं और नंगे रहते हैं परन्तु हरामखोरों को इसी के आदेशानुसार खूब माल खिलाते और कपड़ा पहनाते हैं। यह

अध्रुव को ध्रुवपर, अज्ञात को ज्ञातपर महत्व प्रदान करता है। अगर इसकी समालोचना की जाय, इसकी किसी बात पर शंका उठाई जाय तो अन्ध-विश्वासी ईश्वर की अवज्ञा, धर्म्मग्रन्थों के आदेशों की अवहेलना और देश के चलन के प्रति बगावत करने का अपराध लगाकर समालोचककी जीभ कटवा लेता है, शँका करनेवाले का बहिष्कार होता है। परलोक का भय देनेवाला, बुद्धि विज्ञान और मानवीय समुन्नति का शत्रु और घृणा, झगड़ा, फसाद, विग्रह, स्वार्थान्धता, छोटाई, बड़ाई, दीनता, हीनता फैलानेवाला विष अन्ध-विश्वास है। जिस दिन लोग आँख खोलकर बात का विश्वास करना सीख लेंगे उस दिन छल, कपट, ढोंग दगाबाजी, हरामखोरी, दुष्टता, पराधीनता, अत्याचार और अनाचार आदि सारी बुराइयों का अन्त हो जायगा।

अब खुद हम अपना स्वामी घड़कर तैयार करना और कृतज्ञतापूर्वक उसकी गुलामी की जंजीर अपने पैरों में डालना पसन्द नहीं करते। हम अपने को किसी का दास बनाना नहीं चाहते, न बनायेंगे। न हमें नेता की जरूरत है और न अनुयायी की। हम तो यही चाहते हैं कि मनुष्य अपने प्रति सच्चा हो, अपने आदर्श पर अटल हो, दण्ड आदि की धमकियों से निडर होकर रिशवतों के वादों में न फँसे। हम धरती हो या आकाश, कहीं भी किसी भी एक अत्याचारी और स्वेच्छाचारी की सृष्टि नहीं देख सकते।

केवल विज्ञान ही हमें अमूल्य रत्न दे सकता है। विज्ञान ही एक महर्घ पदार्थ है। इसने मनुष्यजाति को गुलामी से छुटकारा दिलाने का बीड़ा उठाया है। यह नंगों को वस्त्र और भूखों को आहार प्रदान करता है। इसी की अपूर्व दया से हमें रहने को घर, बहुत काल तक जीने का साधन, ज्ञानवृद्धि के निमित्त पुस्तकें और चित्र मिले हैं। इसी के द्वारा हमें रेल तार, फोनोग्राम, टेलीफोन और बिजली जैसे आश्चर्य्यजनक पदार्थ हस्तगत हुए हैं। इसीसे हमें कल्पनातीत अनन्त सामग्री भोगने को मिलेगी। विज्ञान ही हमारा सहारा, संरक्षक और मोक्षदाता है। इसी के प्रताप से ईमानदारी और सचाई छल एवं धोके पर विजय पा सकती हैं। इससे हमारे मानसिक और शारीरिक रोग हटे हैं और हटेंगे। यह हमें लाभदायक धर्म्म सिखलायेगा, सन्देहों को विदूरित करेगा, संसार को अन्ध विश्वास के गढ़े से निकालेगा। इसकी सेना में विचारशील, सत्यवादी, तत्त्व-दर्शी, दार्शनिक, वैज्ञानिक, सूर और सामन्त को स्थान मिलेगा और पुरोहित, पण्डे, पुजारी, जादूगर वगैरः विज्ञानभानु के प्रकाश से भाग कर उलूकों की भाँति सदासर्वदा के लिए अज्ञात लोक में जा छिपेंगे। इसके साम्राज्य में छल और कट्टरता को स्थान नहीं मिल सकता। आओ प्रिय बान्धव हम महाराजा-धिराज विज्ञान की उपासना करें; जिससे दीनता, हीनता, क्षीणता का अन्त हो, हमारे पापों और अपराधों का नाश हो। हम बड़े, श्रेष्ट और

अच्छे बनें। विज्ञान का ही हाथ संसार को स्वतन्त्रता दिलायेगा।

हमें पूर्ण आशा है कि इस विज्ञान के युग में, सारे संसार के साथ भारत का भी सब प्रकार कल्याण होगा और बहुत जल्द होगा। उन्नति का एकमात्र मार्ग ज्ञान, विवेक और विचार-स्वातन्त्र्य है, प्रकृति का पाठ और उसके रहस्यों की खोज है, इसी को प्रत्यक्षवाद कहते हैं।

पाठक कहेंगे, कल्याण किसे कहते हैं? उन्नति क्या पदार्थ है? क्योंकि उन्नति के स्वरूप में बड़ा मतभेद है, इसकी परिभाषा अत्यन्त विवादग्रस्त है। आज जिसे एक समुन्नति और कल्याण के मार्ग के नाम से पुकारता है, दूसरा कल उसीको घोर पतन और बर्बरता बतलाता है।

धर्मके ही सम्बन्धमें हम देखते हैं कि लोग बिना समझे-बूझे अपनी प्रार्थना संस्कृत, और अर्बी में करते हैं, यदि मातृभाषा में प्रार्थना करें तो बहुत कम प्रतिष्ठित समझी जाती है, शायद अल्लाह मियांकी समझमें भी न आसके। लेकिन बहुत से समझदारोंका मत है कि सब प्रार्थना-उपासना अपनी मातृभाषामें ही होनी चाहिए, क्योंकि ईश्वर समझे या न समझे कम से कम जो कुछ हम अपनी जबान से कहते हैं उसे खुद तो समझ लें। किसी समय इङ्गलैण्ड में ऐसा कानून था कि जो कोई बाइबिल अपनी मातृभाषा में पढ़ेगा, उसका घरबार और सारी सम्पत्ति—यहाँ तक कि उसका शरीर और प्राण तक राज्य

आत्मसात् कर सकेगा। भारत के ब्राह्मणों ने एक समय यह कानून प्रचलित किया था कि जो कोई शूद्र वेदमन्त्र सुन लेगा उसके कानों में सीसा गर्म करके डाल दिया जायगा। ऐसी दशा में कौन निर्णय करे कि कल्याण किधर है किस काम में है। इस महत विरोध में उन्नति की परिभाषा करना कठिन क्या असम्भव हो जाता है।

किसी को पराधीनता पर ही अटल विश्वास है, वह उसी में मस्त रहकर सांसारिक उन्नति की जड़ देखता है, क्योंकि जो बात चीज़ या पुस्तक पुरानी है वह आँख मूँदकर मान लेनी चाहिये। पुरातन का सम्मान इसीलिए होना चाहिए कि वह पुरातन है, पुरातन के सामने विवेक, बुद्धि और भावों की अवहेला करके भी सिर झुका देना पाण्डित्य है। जबतक किसी बात की पुष्टि में किसी पुरानी ब्रह्मा बाबा की ब्राह्मी भाषा और लिपि में लिखी हुई पुस्तक के दो-चार अवतरण खोजकर न निकाले जायँ, हमारी वह बात सच्ची और मान्य हो ही नहीं सकती।

कोई कहता है पुरानी बातें सारी की सारी रद्दी के टोकरे को सौंप देनी चाहिएं। नवीनता के आदर के लिए उसका नवीन होना ही पर्याप्त है। पुराने लोगों में अगर बुद्धि होती तो उनमें आजकल के रेल, तार, जहाज़, पनडुब्बे, हवाई जहाज़ आदि बनाने के सारे ही वैज्ञानिक चमत्कार मौजूद होते। पुराने लोग जङ्गली और नादान थे, उनकी लिखी पुस्तकों से आज हम कौन सा लाभ उठा सकते हैं?

परन्तु, नहीं। प्रत्यक्षवादी कहता है—सत्य ही मान्य है। सत्य काल, दिशा और पक्षपात के बन्धन से अबाधित होता है। सत्य प्रकाश है। इसकी ज्योति हमें अन्धकार से निकाल कर सीधा मार्ग दिखलाती है और वास्तविक उन्नति के पथ पर ला छोड़ती है। अतः पुराने-नये का प्रश्न छोड़कर हमें सत्य का मार्ग ग्रहण करना उचित है। बालक की समीचीन बात उतनी ही मान्य होती है जितनी किसी वृद्ध या पुरानी पुस्तक की समीचीन बात। असत्य, अनहोनी, अप्राकृत बात नई हो या पुरानी त्याज्य ही होती है। हम नई होने के कारण किसी उपन्यास या कल्पित गल्प की सचाई का दावा नहीं कर सकते और न नवीनता के कारण प्रत्यक्ष विज्ञानुमोदित या वैज्ञानिक खोज की हम उपेक्षा कर सकते हैं। इसी प्रकार हम पुरानी कथाओं के अनुसार यह नहीं मान सकते कि घी, दूध, दही, मधु आदि के बड़े बड़े समुद्र धरामण्डल पर विद्यमान हैं, अमुक देवता का शरीर ३५० या ५०० धनुष ऊँचा था। हमें जैन तत्वार्थ सूत्रों में या श्रीमद्भागवत के बतलाये हुए इतिहास और भूगोल पर केवल उनकी प्राचीनता के कारण विश्वास नहीं करना चाहिए। क्या आज हम आचार्य्य जगदीशचन्द्र बोस की बातों को इसलिये अमान्य कर सकते हैं कि वे नई हैं।

मसीह की छठी शताब्दी में एक ईसाई साधु महोदय ने—जिनका नाम कोसमास (Cosmos) था—भागवतकार महाशय की विचारशैली के अनुसार अपना एक नया भूगोल

रचा। इस भूगोल के अनुसार धरती एक गोल चपटी मट्टी का टुकड़ा है इसके चारों ओर समुद्र हैं। इस मिट्टी के टुकड़े को आवेष्ठित करनेवाली जल-रेखा के चारों ओर फिर एक और चपटी धरती की गोल रेखा है जो जल को चारों तरफ़ से घेरती है। इसी दूसरी धरती पर नूह के तूफान के पहले पुरानी दुनिया वसती थी। तूफान आने पर नूह मियाँ ने मनुष्यों को वहाँसे भगाकर इस नई दुनिया में ला वसाया। वाहरी धरती पर जहाँ तूफान आया था एक पहाड़ है, उसी के चारों ओर चन्द्र ओर सूर्य्य परिक्रमा किया करते हैं। यह वात १४०० वर्ष की पुरानी और कुरानी गप्प की जननी है। क्या इसे हम पुरानी होने के कारण सत्य मान लें ?

यदि हम अपने मित्रों के कथनानुसार मान भी लें कि सभी पुरानी वातें समीचीन होती हैं अतः उन्हें हम आँखें वन्द करके सत्य मान लें, तो भी यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि प्राचीनता और नवीनता के वीच की विभाजक रेखा कौनसी है ? कितने दिनों की वात को पुरानी समझें और कवतक किसी वात को नई मानते रहें ? वर्तमान तो लगातार भूत में परिणत होता रहता है। क्या हमारी भावी सन्तान आजकल की गल्पों और कहानियों को सच्च मान लेगी ? क्या हम अलिफ़लैला और कादम्वरी आदि की वातों को सत्य मान लें ?

आदम से ख़ुदाने सुरियानी भाषा में बात-चीत की, मूसा से इबरानी में, मुहम्मद से अर्बीमें, प्रह्लाद से संस्कृत में, नामदेव से हिन्दी या डिंगल में, यह तो लोगों ने समझ ही रखा है, लेकिन हज़रत 'ऐण्डी कम्प' ने अपनी पुस्तक में जो १५६६ ई० में प्रकाशित हुई है, कहा है कि ख़ुदा ने आदम के साथ स्वीडिश भाषा में बातचीत की, क्योंकि स्वर्ग की भाषा स्वीडिश है। हमारे देश के स्वर्ग के दावीदार कहते हैं कि स्वर्ग की भाषा संस्कृत या प्राकृत है। गणधरों की भाषा का पता लगाना दुस्तर हो रहा है। हमारे जैन-तीर्थंकरों की भाषा केवल गणधर (तीर्थंकरों के द्विभाषिये) ही समझ सकते थे। यद्यपि अन्तिम तीर्थंकर महावीर स्वामी को हुए अभी २५०० वर्ष ही हुए हैं। यह गणधर महाशय जो बोलते थे उसे देश-देशान्तरके सब लोग अपनी-अपनी भाषा में ही सुन और समझ लेते थे। यह सब प्राचीन ग्रन्थों की लीला और हमारा अन्ध विश्वास है।

अन्त में प्रत्यक्षवादी की दृष्टि में उन्नति का मार्ग वही है जो मनुष्य जाति में से शारीरिक और मानसिक ग़ुलामी को विदूरित करने का साधन हो; पूर्ण शारीरिक और मानसिक स्वतन्त्रता ही समुन्नति है। संसार में सब प्रकृति-प्रदत्त पदार्थों को बिना रोक-टोक मनुष्य खा-पी और भोग सके, इसीमें कल्याण है, इसीमें मुक्ति और इसी में सुख और आनन्द है।

यह लेख सरोज में फक्कुणी 'चार्वाक' के नाम से सन् १९३० में छपा था।

किधर ?
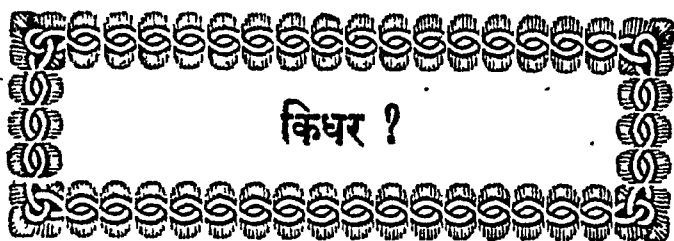
इधर या उधर ? किधर ? यह प्रश्न मेरे मन में पैदा होता है, क्योंकि मैं प्रत्यक्ष देख रहा हूँ कि संसार में दो मार्ग हैं—लौकिक और अलौकिक; प्राकृतिक और अतिप्राकृतिक या नैसर्गिक और काल्पनिक।

नैसर्गिक, स्वाभाविक, प्राकृतिक या लौकिक मार्ग तो वह वास्तविक मार्ग है जो हमें प्रत्यक्ष प्रेरणा करता है कि हम संसार के हितार्थ जियें, मरें; अपने दिल और दिमाग़ से काम लें, प्राकृतिक शक्तियों को खोजें और आविष्कारों में संलग्न हों और इन कामों का यह फल दिखलायें कि हम सुखी मनुष्य हैं और हम सबको खाने को यथेष्ट अन्न, पहनने को पर्य्याप्त कपड़ा और रहने को समुचित स्थान प्राप्त है। इन शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के साथ-साथ हमारा काम हो कि हम अपनी मानसिक क्षुधा-निवृत्ति के लिये कला और विज्ञान को अपने मनोरञ्जन की सुरम्य वाटिका समझें।

दूसरा मार्ग यह है कि काल्पनिक जगत् में आँख बन्द किये फिरें, परलोक की चिन्ता में इस लोक का ख़ून करें, अज्ञात का पक्ष लेकर ज्ञात का तिरस्कार करें, विज्ञान, कला-कौशल और बुद्धि को छोड़ कर प्रार्थना और मन्त्र आदि के जप से अपने सारे कामों को अनायास ही बना लेने के उद्योग में लगें।

पहला मार्ग है—सोचना, विचारना, देखना, अनुभव से काम लेना, विवेक के प्रकाश के पीछे चलना। दूसरा रास्ता है, बिना जानी-बूझी बात पर विश्वास कर लेना, मान लेना, उसीका अनुकरण करना और अपनी ज्ञानेन्द्रियों तथा मन और बुद्धि का अविश्वास करना। जो लोग जानकार बनकर हमारे सामने आवें उनके सामने सिर झुका देना, सत्यासत्य के निर्णय से मुँह मोड़ना और आँखों से अधिक कानों का भरोसा करना।

एक पक्ष हमें कहता है कि तुम मनुष्य हो। तुम्हें मनुष्य-जाति के उपकार के लिये जीना-मरना चाहिये। तुम्हारा धर्म है कि अपने बाल-बच्चों, इष्ट मित्रों का जीवन सुखी बनाओ और संसार में सुख से रहो। हो सके तो प्राणी मात्र को नहीं तो मनुष्यमात्र को—स्त्री हो या पुरुष—दुःखों से बचाओ। दूसरा पक्ष कहता है, तुम संसार में भूत-प्रेतों, देवताओं और फरिश्तों की सेवा के लिये अपना जीवन समर्पण कर दो। इनके प्रताप से तुम्हें दूसरे लोक में, मरने के बाद, बड़े-बड़े सुख मिलेंगे।

एक ओर हमें विवेक को सिंहासनासीन करके इतिवृत्तियों को अपना विश्वासपात्र आमात्य बनाने की प्रेरणा हो रही है और दूसरी ओर विश्वासपरता के राज्य में आँख बन्द करके केवल विश्वास के भरोसे जीवन अतिवाहित करने की शिक्षा मिलती है।

एक मार्ग है, अपने भीतरी और बाहरी प्रकाश के सहारे आँख खोलकर चलना, अपने ज्ञानेन्द्रियों पर भरोसा और विश्वास करना। दूसरा मार्ग है, आँख बन्द करके दूसरों का अनुकरण करना।

एक पक्ष कहता है, धार्म्मिक, और ईमानदार बनो; अपने विवेक और सद्विचार से दूसरों को सन्मार्ग पर लाने के लिए उन्हें प्रेम-पुरस्सर अपने विचारों को दो, सीधे और निर्भय खड़े हो, धोकों, छलावों और नरकों का ख़्याल छोड़ो।

दूसरा पक्ष कहता है कि भयभीत रहो, झुक जाओ, अपनी अन्तरात्मा को धोका दो, दूसरों की मानसिक और शारीरिक स्वतन्त्रता छीनने में सहायक बनो और अपनी प्राकृत स्वतन्त्रता का भी उपभोग भूल जाओ।

एक दल हमें बतलाता है, अतिप्राकृत बातों पर विश्वास करो, रोजे-नमाज, प्रार्थना और उपासना में लगे रहो। तुम्हारा कल्याण इसी में है। इसीसे वर्षा होगी, धूप होगी, खेती अच्छी होगी और तुम आरोग्य और दीर्घायु होगे। तुम्हारा धर्म्म है कि तुम राजा और राजनियमों (कानूनों)

से डरते रहो। राजा की प्रसन्नता से तुम्हारा भला होगा। राजा ईश्वर का अंश है। उसके प्रति आत्मसमर्पण कर देना सबसे अच्छा काम है।

दूसरा दल कहता है, इस बातपर मत विश्वास करो कि कोई शक्ति प्रकृति की प्रगति को रोक या बदल सकती है। झंझा, तूफान, वृष्टि, प्लावन और भूकम्प सारे प्रकृति के खेल हैं; प्राकृत नियमों के अनुसार होते रहे हैं और होते रहेंगे। कोई भी मनुष्य किसी राजा, बादशाह, हाकिम या किसी धर्मयाजक की गुलामी के लिए पैदा नहीं हुआ। सबके शरीर, मन और बुद्धि है। प्रकृति सब के उपभोग के लिए बनी है। इसलिए वीर बनो और वसुन्धरा पर निर्भय अपने प्राकृतिक अधिकारों को लेकर विचरो।

कुछ भोले-भाले या भुलानेवाले पण्डित कहते हैं कि आदिम मनुष्य जंगली और नालायक पशु थे। वह अलग-अलग छोटे-छोटे कुटुम्ब लेकर रहते थे और अपने भोजन और वस्त्र के लिए एक-दूसरे के साथ लड़ते-कटते और मरते थे, स्त्रियों के लिए झगड़े करते थे। किसी दयालु पुरुष ने जन्म लिया और उसने उनमें शान्ति की स्थापना की। पाश्चात्य देश के विद्वान 'हक्सले' महाशय ने भी 'होब्स' महाशय के स्वर में स्वर मिलाया और १८८५ में लिख डाला कि आरम्भ काल में मनुष्य लड़ाई-भिड़ाई करके जीवन व्यतीत करते थे, नित्य आपस में झगड़े ठाने रहते थे। तब कुछ उच्चकोटि के

लोग पैदा हुए और उन्होंने पहलेपहल समाज की बुनियाद डाली। इन महाशय का "जीवन-संग्राम" (Struggle for Existence) नामक सिद्धान्त बहुत प्रसिद्ध है। पाठक चाहें तो उसे पढ़ें और विचारें।

कहाँ तक कहें, दादा डारविन के चेले-चाँटे भी कह उठे कि समाज मनुष्य की कृति है। यदि कहीं विद्वान् शिरोमणि 'प्राउढन' का तर्क इनके दिमाग़ों में पैदा हुआ होता, और उन्होंने प्रकृति का निरीक्षण कुछ और गहरी दृष्टि से किया होता तो अनायास ही इनकी समझ में आजाता कि समाज मनुष्य का आविष्कार नहीं है, समाज मनुष्य की उत्पत्ति से बहुत पहले ही धरामण्डल पर वर्तमान प्राणियों में मौजूद था। मनुष्य-द्वारा समाज की आविष्कृति की गाथा धर्म्माचार्य्यों के दिमाग़ों की अनोखी कल्पना है। इन्हीं की दूर देखने वाली बुद्धि ने राजा का आविष्कार किया। इन्हीं नादानों ने राजछल और धर्म्मकैतव को संसार में फैलाकर मनुष्य जाति को धूल में मिलाया।

आज भी हमारे शिक्षक, अध्यापक और आचार्य पाठशालाओं, महाविद्यालयों, गुरुकुलों और विश्वविद्यालयों में हमें सिखलाते रहते हैं कि मनुष्यों के ऊपर एक बलवत्तम शक्ति की स्थापना की आवश्यकता है। ये महापुरुष समाज में उन नैतिक नियमों को जो उन्होंने अपनी चालबाज़ी से गढ़कर

जिन्ह छोड़े हैं, तोड़नेवाले को विविध प्रकार के दण्ड देकर अपने नैतिक भाव के पौदे को हरा-भरा रखने की शिक्षा दिया करते हैं। इसे वे राष्ट्र के जीवित रहने के लिए अनिवार्य बतलाते हैं। यह सब इसलिए किया जाता है, कि कहीं लोग सावधान हो गये तो इन महापुरुषों की, जो दूसरों की सरलता और नादानी से संसार के सारे सुख बिना परिश्रम भोग रहे हैं, दाल न गलेगी।

हमें उन लोगों से तनिक भी घृणा नहीं, जो उल्टे रास्तेपर भटक कर चले गये हैं। हम उन्हें यह बताना चाहते हैं कि हमारे पूर्व पुरुषों ने, जो कुछ उनसे बना, बहुत किया। उन्होंने अलौकिक शक्ति की पूजा और अर्चना में कोई कसर नहीं छोड़ी। उनकी समझ में परमात्मा सारे विश्व का एक स्वेच्छा-चारी एक मुखी-सत्ताधारी राजा है। वह सब कुछ अपनी मनमानी करता है। क्योंकि उसमें शक्ति है। वह हमें इस लोक में भी सुखी रखता है और परलोक में भी। इसपर भी जब उन्हें दुख मिलने लगा तो वह एक आसुरी शक्ति को मानने लग गये। इस शक्ति का भी आतङ्क उनके मनों में ईश्वर-शक्ति के समान ही बैठ गया। यह दूसरी आसुरी या शैतानी शक्ति इन्हें ईश्वर से भी अधिक चालाक नज़र आई, क्योंकि वह ईश्वर की प्रार्थना और उपासना करते रहने पर भी अपना हाथ बढ़ाने लगी। इस तरह बेचारे मनुष्य के दो पाटों के बीच मूँग की तरह दले जाने लगे। हमारे पूर्व पुरुषों को न ईश्वरी शक्ति

से प्रेम था न आसुरी-शक्ति से घृणा थी। लेकिन इनमें दोनों का ही पूरा-पूरा भय समा गया था। वे अपने ऐहिक और पारलौकिक सुखों की खोज में कभी इधर झुकते और कभी उधर।

जब पूर्वकाल में मानव-समाज इस चक्कर में पड़ा तब कुछ विचारशील लोग उत्पन्न हुए। इन्होंने अनुभव किया, सोचा विचारा और अपने अनुभवों और विचारों को लिपिबद्ध करना आरम्भ किया। धीरे-धीरे इन्हें मालूम होने लगा कि किसी-किसी समय अमुक-अमुक निर्दिष्ट कारणों से चन्द्रग्रहण और सूर्यग्रहण हुआ ही करते हैं और इनका होना हम पहले से बतला भी सकते हैं, इसलिए इनका मनुष्य के सुकर्म और दुष्कर्म से कुछ भी सम्बन्ध नहीं होता, न इनका होना, न होना किसी दैवी या आसुरी शक्ति के हाथ का खेल है। इसी प्रकार विचार करने से इन्हें भूकम्पों, तूफानों आदि के भी कारण जान पड़े तब तो इन लोगों ने दैवी और ईश्वरीय शक्ति की सत्ता में भी सन्देह करना शुरू किया और भूगोल, खगोल, ज्योतिष, भौतिक विज्ञान आदि सम्बन्धिनी अगणित बातें सोच डालीं। जिसे हम आज पर्यन्त भी लगातार सोचते जा रहे हैं। हवा, वगैरह सभी पर हम अपने पुरुषार्थ से विजयी हो रहे हैं। अब हम नक्षत्रों, ग्रहों, उपग्रहों के आकार-प्रकार, लम्बाई-चौड़ाई और दूरी जानते हैं। हमें ज्ञात है कि कितने ही ग्रह पृथ्वी से कहीं ज्यादा बड़े हैं। हम पर रूपों के विकाश,

वनस्पतियों की वृद्धि और प्रसार, पहाड़ों और टापुओं की बनावट और उत्पत्ति के कारण, जल, वायु और अग्नि की शक्ति और काम के बहुत से भेद खुल गये। सौर्यक्रम में पृथ्वी का स्थान निर्णय करके जीवों और ग्रहों के सम्बन्ध को हमने ढूँढ़ निकाला। खोज और प्रयोगों ने हमें रसायनशास्त्र के अगणित गूढ़ रहस्यों को बतला दिया। छापे की आविष्कृति, घटनाओं के संरक्षण, वितरण और विश्लेषण, सिद्धान्तों और विचारों के योग से अन्ध विश्वास के जञ्जीर की सहस्रों कड़ियाँ टूट कर गिर गईं। हम प्रकाश में आये और अलौकिकता का भण्डा-फोड़ होने लगा। ज्यों-ज्यों वैज्ञानिक मनोवृत्ति की वृद्धि होती जाती है, त्यों-त्यों प्रकृति के रहस्य हस्तामलक होते जा रहे हैं। अब बहुत सी पुरानी बे सिरपैर की गाथाएं हमें बेहूदा जँचती हैं और अलौकिकता हमारे ऐहिक कामों में अब बहुत बाधा नहीं डालती।

स्कूल खुलते जाते हैं, लड़कों को हमारे पूर्व अनुभव के पाठ पढ़ाये जाते हैं। पुस्तकें छपती हैं और विचारशीलों की संख्या बढ़ रही है। अब अति प्राकृत या अलौकिक बातों को मुंह छिपा कर भागना पड़ता है। प्राकृत बातों के भीतर अप्राकृतिक बातों का लय होता जाता है। धर्मों के पर बिखरते देख धर्म-याजकगण वैज्ञानिक और विचार-शीलों को अपना शत्रु समझते हैं, पर कुछ वश नहीं चलता। हाँ, कभी-कभी ये स्वतन्त्र विचारवालों को धर्म-द्रोही, नास्तिक, नारकीय आदि

गालियाँ देकर सन्तुष्ट ज़रूर हो लेते हैं। हमें इनसे शत्रुता नहीं, हम तो चाहते हैं कि यह भी ज्ञान के प्रकाश में जल्दी आ जायँ। इनका क्षणिक स्वार्थ इन्हें प्रकाश में नहीं आने देता। जो भी हो, एक दिन सारा संसार विज्ञान-भानु के प्रकाश में आयेगा और अज्ञानान्धकार का नाश होगा। वह दिन अब दूर नहीं है।

हज़ारों वर्ष से जीवन के दो दार्शनिक सिद्धान्त रहे हैं। एक कहता है; वासनाओं को निर्मूल कर डालो, इच्छाओं को कम करो और किसी बलिष्ठतर और उच्चतर शक्ति का आश्रय लो। दूसरा वासनाओं को उचित संतृप्ति, इच्छाओं और कामनाओं की वृद्धि तथा उनकी उद्योग, चातुर्य्य, अन्वेषण, आविष्कार और अपने बाहुबल द्वारा पूर्ति का पक्षपाती है। डायोजिनीस (मसीह से ४१२ वर्ष पूर्व हुआ) हाइरेपोलिस का 'एपिकटेटस' (जो मसीह की पहली सदी में हुआ) सुक़रात (जो मसीह से ४६९ वर्ष पूर्व हुआ) बुद्ध, शंकर, मसीह महावीर आदि अनेक विचारक पहली कोटि के लोगों में थे। आज महात्मा गांधी भी एक सीमा तक इन्हीं के अनुयायी हैं। इन्हें ऐश-आराम से नफ़रत है, यह कला-कौशल, गान-वाद्य के विरोधी हैं, इन्हें अच्छे खाने, कपड़े और वेश-भूषा की ज़रूरत नहीं मालूम होती। यह दरिद्रता, मैले-कुचैले चीथड़ों, अज्ञान और विश्वास के प्रेमी, आशिक़ेज़ार हैं। इनकी आँखों के सामने संसार दुःखमय, कण्टकाकीर्ण अतः त्याज्य दिखलाई देता है

और दूसरे लोक के काल्पनिक सुख और महत्व आँखों के सामने नाचा करते हैं। मसीह कहता है कि सुई के छेद से ऊँट का निकल जाना चाहे सम्भव हो; परन्तु सम्पन्नों का स्वर्ग में जाना असम्भव है। "राम नाम के कारने सब धन डारा खोय। मूरख जाने गए भी दिन दिन दूना होय॥" यह किसी हिन्दू-साधु का वचन है।

इस कुसंस्कार पूर्ण दर्शन का दिन दिन लोप हो रहा है। अब जनता इस लोक में सुखी रहना चाहती है। आज हम समझने लगे हैं कि पिछले जन्म के अपराधों के कारण हम ग़रीब नहीं है, न इस जन्म में दुख भोगने से अगले जन्म में सुखी होंगे। हमारे सुखी और दुखी होने के, हमारी सम्पन्नता और विपन्नता के कारण दूसरे ही हैं और उनका इसी लोक से सम्बन्ध है। हम में इन कारणों को विदूरित करने का सामर्थ्य है। आज हम लोगों को जीवन में सुखी होने की चाह है। हमें अच्छा अन्न, अच्छा कपड़ा और समुचित घर की ज़रूरत है। हमें पुस्तकें और तसवीरें चाहिएं। हमें आराम और अवकाश दरकार है। हम चाहते हैं कि हमारे दिमाग़ समुन्नत और बली हों जिससे हम प्रकृति की शक्तियों को अपनी दासी बनाकर चैन की वंशी बजायें।

आज समझदार नर-नारी त्यागियों की शिक्षा, संन्यासियों-वैरागियों के दार्शनिक उपदेशों को हँस कर ठुकरा देते हैं। हाँ, भारत अलबत्ता अभी तक अर्द्ध जागृत अवस्था में पड़ा हुआ

इन पाखण्डों के हाथ में नाचता है। लेकिन इसकी मोह-निद्रा टूटने में भी अब बहुत देर नहीं है। हम देखते हैं कि कलकत्ता के मारवाड़ी जो पुरोहितों के हाथ में कठपुतली की तरह नाचते थे, जिन्होंने १६०८ में, जब सुधारक समुदाय की गर्दन पर पुरोहितों की तलवार रखी गई थी, पुरोहितों के भय से 'सत्य सनातन धर्म' को छिपकर सहायता देते थे, वही मारवाड़ी नवयुवक आज पुरोहितों को बन्दर की तरह नचाते हैं। सुधार के कट्टर विरोधियों की गली की कंकड़ी से अधिक प्रतिष्ठा नहीं करते। यह बात हम भारत के अन्य प्रान्तों में भी देख रहे हैं। एक समय था कि वैश्य महासभा में राय केदारनाथ साहब सदृश सुधारकों ने सर गङ्गाराम के विधवा-विवाह-सम्बन्धी प्रस्ताव का विरोध किया था। सभा के अनेक सज्जन मेरी ओर यह कहकर अङ्गुली उठाते थे कि मैं सर गंगाराम के साथ सह-मत था। आज वैश्यों में विधवा विवाह हो रहे हैं, हिन्दू मात्र इसकी आवश्यकता को देख और समझ रहा है। अब बाबा वाक्यं प्रमाणम् का काम नहीं है। यह सत्य का युग, विज्ञान का युग, स्वाधीनता का युग है,—प्रत्यक्षवाद का ज़माना है। कौन ऐसा नासमझ होगा जो उपवास और आत्मसन्ताप में विश्वास करेगा। यह संसार त्यागभूमि नहीं भोग भूमि है। नरक की यातनाएं, स्वर्ग के आनन्द, पितृ-लोक आदि के पवाँड़े पञ्चतन्त्र की कहानियों से अधिक महत्व नहीं रखते। कार्य-कारण-सम्बन्ध से फल होते हैं। कार्य-

कारण-सम्बन्ध को समझना और बात है, गपोड़ कथा दूसरी चीज़ है।

हम खोज से, जाँच पड़ताल से, तर्क से, बुद्धि से, विचार शीलता से जान सकते हैं कि सुखों के कारण क्या हैं और दुखों के हेतु कौन से हैं और फिर उन्हीं कारणों के प्रतिबन्धों के अनुकूल रहकर सुख पा सकते हैं और प्रतिकूल रहकर दुखों को दूर कर सकते हैं। यह धूर्तता या बाज़ीगरी कि हमारे कर्मों से ग्रहण लगते हैं और भूकम्प आते हैं, अब नहीं काम देगी। हम किसी आसमानी या ज़मीनी राजा के ग़ुलाम बनना नापसन्द करने लगे हैं। क्योंकि हम विवेकवान जन्तु हैं। हम कर्मयोग, दर्शन और विज्ञान को पढ़कर पण्डित हो गये हैं। अब हमारी आँखों में धूल झोंकना सरल काम नहीं है। एक ओर एसेम्बली में बिल पेश होता है, दूसरी ओर जनता सरकार की सारी शरारत और विचारी हुई कूट-नीतियों को खोलकर मैदान में बिखेर देती है। राजकैतव और पुरोहित दाव-पेन्च के दिन बहकर अतलान्तक महासागर में विलीन हो गये हैं। आज हम ज्ञान और विवेक से बुराइयों को हटाते हैं। अपने मस्तिष्क की समुन्नति में अपना कल्याण देखते हैं। नवीन युग के नवीन विद्यालय हमारे धर्म-मन्दिर हैं। विश्वव्यापक ज्ञान हमारा गुरु है, और विज्ञान हमारा उपास्यदेव—सत्यनारायण है।

पूर्वकाल में सरकारों की दो उपपत्तियाँ थीं, एक पारमार्थिक दूसरी ऐहिक। दोनों के मूल में एक ही भ्रम था। उस

लोक में ईश्वर इस लोक में राजा। राजा ईश्वर का अवतार या प्रतिनिधि कहा जाता था। इसलिए मनुष्य का कर्तव्य था कि पुरोहितों की गढ़ी हुई ईश्वराज्ञा और छलियों की बनाई हुई राजाज्ञा को शिरोधार्य्य करें। अब धार्मिक शासन लोगों को अच्छा नहीं लगता। इसे तो यह एक तरह से ठुकरा चुके। लेकिन उसके स्थान में राजशासन ज़ोरों पर है। इंगलैण्ड में पार्लियामेंट 'गाड' (ईश्वर) है, अमेरिका और फ्राँस आदि प्रजासत्तात्मक राजों में प्रतिनिधि सभा ख़ुदा है, भारत में गवर्नर जनरल और सैक्रेटेरी-आफ्-स्टेट् ख़ुदा और परमात्मा के स्थानापन्न हैं। ईश्वर का सब जगह से वहिष्कार हो चुका है। उसके स्थान पर वैठी हुई राजसत्ताएँ साम्यवाद के भय से काँप रही हैं। इनके भी वहिष्कार किये जाने का समय पास है, यह सब अच्छी तरह जान चुके हैं। फ्राँस के लुई, जर्मनी के 'विलियम' और रूस के निकोला जो समझते थे कि जनता पर शासन करने का हमें ईश्वर-प्रदत्त अधिकार है, अर्धचन्द्र खाकर विदा हुए। जो कुछ प्राचीन वेहूदगी का चिह्न संसार में अवशेष है वह निश्शेष होनेवाला है। अब देखना है कि हम किधर जायँ, इधर या उधर ?

हम जान गये हैं, मनुष्य अपना शासन आप कर सकता है। एक मनुष्य का दूसरे पर शासन करना अप्राकृतिक है। हमें पुरोहितों, पण्डों, पोपों, पोंटिफों, वलियों, नवियों, रब्बियों, तीर्थङ्करों और गणधरों की ज़रूरत नहीं है। हम उनके बिना

अपना काम बखूबी चला सकते हैं। इसी तरह हमें यह भी निश्चय हो गया है कि हमें राजाओं और क़ानून के पोथों की भी ज़रूरत नहीं, हम इन बेहूदगियों के बिना ही ज़्यादा सुखी रह सकते हैं।

भारत में धर्म के व्यवसायियों का चक्र अब भी चल रहा है। यह भी अपने 'पॉटीफिकल थ्रोन' महन्ती सिंहासन के अभिमान में किसीको राजर्षि, किसीको देवी बनाते फिरते हैं। चाहे इन गुबरीलों की तरह नित्यप्रति पैदा होनेवाले आचार्यों को कोई कौड़ी को न पूछे फिर भी इन्हें किसी न किसी उल्लू को पटाकर जेब भरने का अवसर मिल ही जाता है। जो दुराचारी, दुष्ट, नरघातक, पापिष्ठी इन्हें ऊँचा बैठाकर रुपयों की थैली भेंटकर देता है उसीको नर-पुंगव की उपाधि मिल जाती है, वही राजर्षि बन जाता है। इसी तरह सरकार भी साल में दो बार लोगों को अगणित उपाधियों से विभूषित कर अपने मायाजाल में फँसा लेती है। अब इन राजकीय और पुरोहिती उपाधियों का मूल्य घट गया है। केनेडाने तो आज से दस-बारह वर्ष पूर्व, सम्भवतः सन् १९१७ में इङ्गलैण्ड को दी हुई उपाधियों को सदा के लिए नमस्कार कर दिया और अब नये दिन और इंगलैण्डेश्वर के जन्म दिन पर इन उपाधियों का ख्वाब केनेडा नहीं जाता। किन्तु भारत में ऐसे अन्नाहारी सींग-पूँछ वालों की कमी नहीं है जो अपनी दुम में नमदा बँधाकर आह्लादित और प्रफुल्लित होते हैं।

दूसरी तरंग

(सामाजिक)

स्त्री-मानस

मनुष्य जाति की मानसिक उच्चता महत्ता, उसकी दया, धर्म और दूसरे सद्गुणों पर जब हम विचार करते हैं तो हमें पुरुषों से स्त्रियों का स्थान कहीं ऊँचा नज़र आता है। साधारण नर जीवन में हमें पद-पद पर व्यक्तिगत स्वार्थ की झलक मालूम होती है। इसके विरुद्ध नारी जीवन स्वभाव से ही कोमल, सरल और परोपकार निरत् पाया जाता है। संस्कृति के निर्माण और विकास में यदि हम नारी को प्रकृति का दाहिना हाथ कहें, तो तनिक भी अत्युक्ति न होगी; लेकिन इसके विरुद्ध नर विघातक और संहारक है। देखिये दोनों में कितना अन्तर है। प्राणिशास्त्रज्ञों ने भी इस बात की पुष्टि की है। जीवाणु के दो भेद किये गये हैं अणुलोम परिणामी और प्रतिलोम परिणामी। वह निर्माण-क्रिया तत्पर शक्ति है और यह विध्वंस कारी बल। विध्वंस का काम वस्तु

के प्रस्तुत हो जाने पर सम्भव है, इसीसे कहना पड़ेगा कि नारी नर से पहले उत्पन्न हुई। नर नारी का अनुन्नत रूप है।

प्राणिशास्त्र का एक आचार्य्य कहता है :—

"all facts point to the feminine as the primary and fundamental basis of existence. most recent biological studies have also shown that the masculine is secondary."

अर्थात्—सब बातें इसकी साक्षी दे रही हैं कि जीवन सत्ता का प्रधान आधार नारी है। प्राणिशास्त्र के नवीन अनुसन्धान भी कहते हैं कि नर का स्थान गौण है।

इतिहास की भद्दी घटनाओं से भ्रष्ट पृष्ठों को पढ़कर न्यायपरायण सत्यशील व्यक्तियों के हृदय काँप उठते हैं, क्योंकि पुरुष ने मातृ-शक्ति के साथ लगातार अक्षम्य अपराध किया है और वह अब भी ऐसा ही कर रहा है। जिस जाति में स्त्रियों की जैसी दयनीय, जितनी गर्हित, जितनी पतितावस्था पुरुषों के हाथों से हुई है, उसका पता उसी जाति के पुरुषों के पतन से लग सकता है। यह सम्भव नहीं कि कोई जाति मातृ-शक्ति के प्रति अत्याचार करके स्वयं नीच और पतित न हो।

हमने स्त्रियों को क्रीड़ा का क्षेत्र, खेल-तमाशे की चीज़ और अपनी चालबाज़ी का शिकार बनाया, इसलिये कि वे

भोली हैं, उनमें दया अधिक है, वे प्रेम की मूर्ति हैं, वे संसार को बनाने वाली हैं, वे स्वयं भूखी रहकर दूसरों का पालन पोषण करती हैं। क्या यह कृतघ्नता नहीं है? छल नहीं है? अनीति नहीं है? क्या सम्भव है कि निसर्ग के साथ छल, दगा और चालबाज़ी करनेवाला सुखी हो? जो देश समुन्नत होना चाहता है, उसे उचित है कि वह पहले देश की शक्ति की प्रतिष्ठा करे, पूजा करे, उपासना करे। सम्राट नेपोलियन ने राजगद्दी पर बैठते ही यह कहा था—"हमें पहले देश की नारियों को शिक्षित और उच्च बनाना होगा।"

एक बहुत बड़े पाश्चात्य विद्वान ने लिखा है कि समस्त मनुष्य-जाति के इतिहास से सिद्ध है कि पुरुषों ने स्त्रियों के साथ बहुत बुरे भेद-भाव किये। नीति, धर्म, क़ानून, रीति-रिवाज, साहित्य और लोकमत में जहाँ देखें तहाँ पुरुषों की स्वार्थपरता और शरारत आँखों के सामने नाचती नज़र आती है। अगर पुरुषों का स्त्रियों के साथ अत्याचार न होता आता, तो निस्सन्देह आज जगत् जितना समुन्नत है, उससे बीस गुणा अधिक सभ्य, समुन्नत और विकसित होता। पुरुषों ने अज्ञानवश यह समझ लिया कि मनुष्य-जाति के विकास का नर ही एक प्रधान कारण है, और नारी-अंग का इस काम में कोई हाथ ही नहीं है, यहाँ तक कि मानो वह है ही नहीं; अगर है भी तो पुरुषों की दासता के लिये; न कि बराबरी और सहकारिता के लिए। पुरुषों ने जन्मते ही असंख्य लड़कियों के

गले घोट डाले, अगणित स्त्रियों को धर्म के नाम पर जला दिया। जो कहीं माताएँ भी जन्मते ही नारी-विरोधी नर-सन्तति का गला घोट डाला करतीं और पुरुषों को बलात् स्वर्ग-सुख भोगने के लिये भेजती रहतीं, तो आज हमारी क्या दशा होती? लेकिन मातृ-शक्ति दयालु और बनानेवाली है, पुरुष बिगाड़ने वाला निर्दय, और स्वार्थान्ध है।

आज पुरुष अपनी बुद्धि, विद्या, न्यायपरता पर अभिमान करते हैं, अपने मुंह मियां मिट्ठू बनते हैं, अपनी भलाई का ढोल पीटते हैं। इन्हें इतना ज्ञान नहीं कि इनमें जो कुछ सरलता, भलमनसाहत और दया है, वह नारी के ही कारण है। मैं तो कहूँगा कि स्त्री ख़ुदा है, तो पुरुष शैतान। हम स्त्रियों को घर के कपड़े बरतन के समान समझते हैं। हम उन्हें अपने भोग का पदार्थमात्र मानकर उन्हें पर्दे में पुतलियों की तरह सजाते हैं। हम अपने लिये वेश्याओं के बाज़ार स्थापित करते हैं। एक पुरुष अनेक स्त्रियों के साथ विवाह करता है। हम असंख्य विधवाओं की रचना करके उन्हें ब्रह्मचर्य की शिक्षा देकर धर्म और ब्रह्मचर्य का उपहास करते हैं—कैसी शर्म की बात है? क्या इससे हमारा पतन निश्चित नहीं?

स्त्री प्रेम का रूप है, स्नेह का जीता-जागता क़ानून है और दया एवं धर्म की प्रति मूर्ति है। रूस के नवीन इतिहास में 'प्रोवेस्का' आदि अनेक देवियों ने जो काम किये, उनके लिए

रूस के पुरुषों को उनका चिर-ऋणी रहना होगा; लेकिन ये देवियाँ पुरुषों की गुलामी के बन्धन से मुक्त थीं। यह मातृ-शक्ति की जीती-जागती ज्योति थीं, इसलिये इन्होंने पुरुषों का पथ-प्रदर्शन किया। पर्दे के अंदर की पुतलियाँ केवल घर में घुस बैठने की तथा कायरता और नीचता की ही शिक्षा दे सकती हैं, पर इसमें इनका दोष नहीं। इन्हें पुरुष ने अपने आप ज़बरदस्ती जैसा बनाया वैसा बनीं। स्त्रियाँ बुरी नहीं होतीं, पुरुष इनके साथ बुराई करके इन्हें बुरा बनाते हैं, और अपने कृत्य का दुष्परिणाम भोगते हैं।

स्त्रियों की निर्बलता पर पुरुष हँसते हैं। इन बेचारों को पता नहीं कि यह प्रेम और जीवन की खान हैं, इनके हाथ बनाने के लिये हैं, बिगाड़ने के लिए नहीं। इन्हीं के कोमल अङ्कों में नवजात शिशुओं का पालन सम्भव है। कठोर, क्रोधी पुरुषों में इन बच्चों की सेवा और लालन-पालन की शक्ति कहाँ? स्त्रियों की कोमलता ही उनका एक बड़ा भारी बल है।

प्रकृति का गत इतिहास हमें बतलाता है कि नारी में आश्चर्य जनक संयमशीलता होती है। वह सदा से हमें अपने सद्गुण, अपने व्यवहार द्वारा सिखलाती आ रही है। स्वार्थ-त्याग, सहृदया, सन्तोष, दया और प्रेम की शिक्षिका नारी ही है। परम्परा, जनश्रुति, इतिहास के वैज्ञानिक अटल नियम

भी यही कहते हैं कि संसार के भावी महत् विकास के लिये स्त्रियों का उच्चासनासीन होना बहुत ज़रूरी है। धर्म और नीति की जितनी गहरी छाप नारी-हृदय पर पड़ी है और पड़ती है, उतनी पुरुषों पर नहीं पड़ती। कर्तव्य-परायणता का भाव, सरसता, मानसिक वेग और प्रेरणा का प्रावल्य नारियों में अधिक विद्यमान है। सामाजिक जीवन की जड़, लज्जा, सतीत्व, सदाचार, और विश्वसनीयता में नारी ने अपने को बहुत प्राचीनकाल से आदर्श बना रखा है। नशे-बाज़ी, चोरी आदि दुर्गुणों में जितने पुरुष फँसते हैं, नारियाँ नहीं फँसतीं।

थोड़ी सी गम्भीर दृष्टि डालकर देखें तो हमें अपना निजका अनुभव बतलावेगा कि स्त्रियाँ अपनी सहज समझ से ही अपने स्वत्वों और दायित्वों को विचार कर जितने बड़े-बड़े काम कर डालती हैं, उतना ही यदि पुरुषों को करना पड़े, तो सैकड़ों अगर-मगर बाधक हो जायँ। स्त्रियों में अन्तरात्मा के आदेश बड़े प्रबल होते हैं, पुरुषों में काम के समय तर्क का प्रावल्य पाया जाता है। मुसीबत में जितनी जल्दी पुरुष घबड़ाते और बन्धन तुड़ाकर भागना चाहते हैं, स्त्रियाँ उतना नहीं घबड़ातीं। कर्तव्य-पालन में वे आनंद मानती हैं, पुरुष बोझ समझकर कर्तव्य का पालन करते हैं। काम करने के समय हमारी नज़र बदले अर्थात् प्रतिफल पर रहती है, उनकी दृष्टि में काम को अच्छी तरह कर देने में ही आनन्द

का अनुभव होता है। मिलों और कारखानों में जाकर देखें, तो स्त्रियाँ अधिक और अच्छा काम करके देती हैं और कम वेतन पर संतुष्ट पाई जाती हैं। पुरुषों में यह बात नहीं होती। यह बात हमने मनोविज्ञान की दृष्टि से लिखी है, और बहुत अंशों में यह गुण उत्तम भी है। ज़रा सी भूल होने पर स्त्रियाँ स्वतः बहुत लज्जित और दुःखी हो जाती हैं, किन्तु पुरुष अपनी भूलों को जल्दी स्वीकार करने से डरता है, उलटा उनका समर्थन करने की चेष्टा करने लगता है।

जितने भी बड़े आदमी देश-देशान्तरों में हुए हैं प्रायः सबों ने ही स्वीकार किया है कि उनकी समुन्नति में उनकी माताओं का हाथ प्रधान था। प्रबन्ध-शक्ति, संगठनशीलता और राष्ट्र निर्माण की अनुपम योग्यता माताओं से—घरों के प्रबंध में ही—बालक अच्छी तरह सीख सकते हैं। स्त्रियाँ घरों में जिस तरह कपड़ों, बर्तनों और दूसरी चीज़ों को सम्हाल कर उचित स्थानों पर एक क्रम के साथ रखती हैं, उसी तरह बच्चों को भी अपनी चीज़ों के रखने की शिक्षा देती रहती हैं। प्रत्यक्ष में ही हम देखते हैं कि जिन बालकों की माताएँ लड़कपन में मर जाती हैं और दूसरी कोई कहनेवाली वृद्धा नहीं होती, उनमें सुव्यवस्थित-रूप से रहने का गुण बहुत कम पाया जाता है। स्त्री घर की रानी है, हम उससे राज्य करना, हर एक काम की सुव्यवस्था करना और यथा-योग्य बर्ताव करना घर में ही सीख सकते हैं।

हमारी शिक्षा स्वभावतः माता की गोद से ही आरम्भ होती है।

शोपेनहार जैसे विद्वान् मनुष्य ने भी, जो स्त्रियों के प्रति दुर्भाव रखता था, कहा है कि "Intellectual qualities are transmitted to the offspring by the mother"—अर्थात् "माता ही संतति में प्रतिभा सम्बन्धी गुणों को फूँकती है।" इसलिए माता का स्थान पिता से बहुत ऊँचा है। हिन्दुओं में तो यह बात बच्चा-बच्चा कहता है कि पिता के ऋणों से मुक्त हो सकते हैं, पर माता के ऋणों से कभी मुक्त नहीं हो सकते।

यह कौन कह सकता है कि लड़कियाँ लड़कों से अधिक चतुर और मनोहारिणी नहीं होतीं? बुद्धि में बालिकाएँ बालकों से जल्दी प्रौढ़ होती हैं। नर-नारी-मनोविज्ञान का बड़ा भारी ज्ञाता और लेखक हेवलाक एलिस भी यही कहता है—

"Girls are more Precocious than boys" पुनः डी लूने कहता है:—"Among Children under the age of twelve teachers in mixed Schools find that girls are cleverer than boys."

मैं बहुत से विद्वानों के वाक्य उदधृत करना अनावश्यक समझता हूँ, क्योंकि हाथ कंगन को आरसी क्या है। जो चाहे प्रत्यक्ष अनुभव कर सकता है। केवल एक उद्धरण, जो नीचे दिया जाता है, काफ़ी है:—

When children of both sexes are educated to gether, it is the girls who are at the top during the first years, it is at that time above all, a question of the receiving impressions and Keeping them. we see every day that women by the vivacity of their impressions and their memory are superior to men who surround them.

P. Lafitte

अर्थात्—"जब लड़के और लड़कियाँ साथ पढ़ती हैं, तो देखा जाता है कि पहले वर्षों में लड़कियों का स्थान ऊँचा रहता है। वह बात को जल्दी हृदयंगम करती और याद रखती हैं। हम प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं कि स्त्रियाँ अपनी स्मरण-शक्ति और सजग ग्रहण शीलता के कारण अपने आस-पास के पुरुषों से श्रेष्टतर होती हैं।"

जो मित्र अमेरिका से होकर आये हैं, वे कहते हैं कि वहाँ लड़कों और लड़कियों को एक ही स्कूल में पढ़ाया जाता है। इसका फल यह हुआ है कि वहाँ योग्य अध्यापिकाएं बहुत पाई जाती हैं; और अध्यापिकाओं में शिक्षा देने की योग्यता भी अध्यापकों से कहीं ज्यादा होती है। अमेरिका के स्कूलों में अध्यापिकाएँ ही अधिक हैं, और शिक्षा का परिणाम भी उत्तम है।

स्त्रियों का दिमाग़ पुरुषों से हेय या हलका नहीं होता। अध्यापक 'वुशनर' ने विश्लेषण करके देखा और असली आकार और शरीर के अनुपातानुसार आकार—दोनों ही का पुरुषों के दिमाग़ से मुकावला किया है। दोनों जाति के दिमाग़ शरीर के वोझ के १/३५ से १/३० तक होते हैं। और भी किसी दृष्टि से वह दिमाग़ में पुरुषों से पीछे नहीं हैं। ये वच्चों के मानस को जितना समझती हैं, पुरुष उतना नहीं समझते। जिक सरलता, सुन्दरता और शीघ्रता से किसी वात को वालकों के गले यह उतार सकती हैं, पुरुष के लिए वहुत दुस्तर है।

नारियों में नीतिमत्ता का भाव वहुत प्रवल और पुष्ट होता है। वे पुरुषों की तरह अनुचित कृत्यों के लिए धर्म-शास्त्र का वहाना नहीं निकालतीं, पुरुष ही अपने दोषों के छिपाने के लिए ऐसा करते हैं। वेश्याओं का वाज़ार और स्त्रियों के अंदर फैला हुआ दुराचार पुरुषों की पापिष्ट आकांक्षाओं का फल है। अगर स्त्रियों की प्रवल काम-वासना से पुरुषों में वुराई फैली होती, तो स्त्रियों की सुविधा के लिए पुरुषों का वाज़ार होता, पर ऐसा संसार में कहीं नहीं है। इससे स्पष्ट है कि स्त्रियों की अपेक्षा पुरुष ज़्यादः नीच और पतित हैं।

जेलों में भी स्त्रियों से पुरुष की संख्या वढ़ी-चढ़ी मिलती है। आत्मघात करने की वीमारी भी पुरुष में ही ज़्यादा पाई

जाती है, और पुरुषों में भी जो पढ़े-लिखे समझदार हैं वे ही अधिक आत्मघात-रूपी बीमारी के शिकार होते हैं। यह बात पाश्चात्य देशों के अंकों से स्वयंसिद्ध है, किन्तु ख़ास भारत के सम्बंध में निश्चय के साथ ऐसा कहने के लिए मेरे पास कोई आधार नहीं है। फिर भी मैं यह देखता हूँ कि स्त्रियाँ दूसरों से अत्यंत सताई जाने पर या दूसरों के हित के लिए कभी-कभी आत्मघात कर लेती हैं। ये पुरुषों की तरह सट्टा, जुआ चोरी, नशेबाज़ी से नष्ट-भ्रष्ट होकर धनाभाव के कारण आत्मघात नहीं करतीं। फिर पुरुषों में ६६ प्रति सौ धर्मध्वजी होते हैं। यती, पुजारी, साधु, फ़क़ीर, खादिम—सारे के सारे धर्म के नाम पर धंधा करनेवाले मिलेंगे। किन्तु स्त्रियों में विश्वास मिलेगा, पैसा पुजाकर लेनेवाली स्त्रियाँ भी मिलेंगी, पर इनकी संख्या बहुत कम है, और पुरुषों के समान ठगिनी नहीं हैं।

एक बात निर्विवाद है कि स्त्रियाँ जब हठ पर तुल जाती हैं, क्रोध या आवेश में आ जाती हैं, तो वे मानवी अभद्रता को भी पराकाष्ठा तक पहुँचा देती हैं। फिर वह भय, लज्जा, विवेक, विचार, धर्म्म, कर्म सबको भूल जाती हैं, यह स्त्री-जाति के विचार की दृढ़ता के कारण होता है। वे पुरुषों की भाँति ढीले-ढाले इधर-उधर लुढ़कने-वाले स्वभाव की नहीं होतीं। पुरुषों के अत्याचार से पीड़ित स्त्री-जाति अब जगने लगी है इसलिए कभी-कभी उसे चंडी का सा भीषण रूप

धारण करना ही पड़ता है। विलायत की स्त्रियों को राज-सभा के चुनाव में मत देने का, वकील, वैरिस्टर और जज आदि के पद पर आरूढ़ हो सकने का अधिकार तभी मिला, जब स्त्रियों ने उग्र रूप धारण किया। आज भारत में विधवाओं की जो बुरी दशा है, उसको दूर करने के लिए उन्हें भी बहुत जल्द चामुण्डा का उग्रतम रूप धारण करना पड़ेगा।

लेकिन प्रचंडता स्त्रियों में स्वभाव से ही नहीं होती, जैसा मैं ऊपर कह चुका हूँ। इनमें पुरुषों की भाँति पैदाइशी अपराध-प्रियता का अभाव होता है। एक विद्वान कहता है—"Congenital criminals are more frequently male than female, though women form the large proportion of the population they contribute but comparatively very small number to the prison, pauper and imbecile class of the community all over the world."

पुराने जमाने के विद्वानों ने स्त्रियों के कितने ही स्वभाविक दोष वतलाये हैं, लेकिन जब हम विचार-पूर्वक तह में जाकर देखते हैं, तो सारे ही मिथ्या और वनावटी प्रतीत होते हैं। यह कहना कि स्त्रियाँ कंजूस होती हैं, नितांत असत्य है। वे बड़ी उदार और त्याग-तत्पर होती हैं। उनके पास धन होता

ही नहीं, वे पुरुषों के हाथ का दिया हुआ थोड़ा सा पैसा पाती हैं, तव उदारता-पूर्वक ख़र्च करना कैसे सम्भव है? जहाँ स्त्रियाँ धन उपार्जन करती हैं, वहाँ वे पुरुषों के समान ख़र्च भी करती हैं। ग़ुलाम, मजूर, दरिद्री निश्चय ही कंजूस होता है, चाहे स्त्री हो या पुरुष।

निर्दयता का दोष भी भारतीय नीतिज्ञता का दम भरने वालों ने इन दयामूर्ति देवियों पर लगाया है, लेकिन मैं ऊपर वतला चुका हूँ कि पुरुष स्त्रियों को जला सकते हैं, लड़कियों को मार सकते हैं, पर स्त्रियों ने ऐसा कभी नहीं किया। फिर निर्दय कौन है?

कहते हैं स्त्रियाँ मूढ़ और अज्ञान होती हैं। ठीक, अगर शुद्रों और स्त्रियों को पढ़ाना लिखाना बन्द करके पोथी लिखने वाले उन पर अज्ञानता का दोष लगावें, तो अपराधी कौन? पंडित लोग।
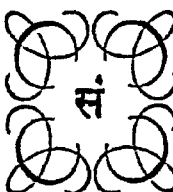
जब कभी स्त्रियों को अवसर मिला है, उन्होंने दिखला दिया है कि वे पुरुष की शिक्षिका और गुरु वन सकती हैं। संसार के किसी भी काम में स्त्रियाँ अपनी नैसर्गिक निर्बलता के कारण पीछे नहीं रह सकतीं, अगर पुरुषों का अत्याचार इन पर न हो। जेल में रहने से जैसे मनुष्य दुराचारियों का गुरु घण्टाल बन जाता है, उसी तरह स्त्रियों को भी पुरुषों के वन्धन में रहने से अनेक बुराइयाँ आ घेरती हैं, फिर भी ये पुरुषों से हज़ार घार अच्छी हैं।

जिन स्त्रियों को बाहर खेतों आदि में काम करने का अवसर मिलता रहता है, वे शारीरिक बल में कम नहीं होतीं। हम उन्हें घरों में बन्द करके अबला बनाते हैं। जिन्हें शिक्षा के मैदान में दौड़ने का मौक़ा मिलता है, वे हमें फिसड्डी बना छोड़ती हैं। इसी तरह और बातों में भी अवसर मिलने पर वे पुरुषों से आगे बढ़ सकती हैं। जिस तरह शरीर की समुन्नति के लिए उसके अंगों के वृद्धि के साधन होते हैं, वैसे ही मष्तिष्क के भी। हम भारत में स्त्रियों को शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार की उन्नति से रोकते हैं, नहीं तो स्त्री-मानसशक्ति पुरुष-मानसशक्ति से अनेक गुणा श्रेष्ठ है। स्त्रियों में जो त्रुटियाँ देखी जाती हैं, ये नैसर्गिक या स्वाभाविक नहीं, किन्तु बनावटी हैं, और इन सब के जिम्मेदार पुरुष हैं, न कि स्त्रियाँ।

(यह लेख सितम्बर १९२९ के विशाल भारत में छपा था। इस सिलसिले का एक लेख और था पर प्राप्त न हो सका)

मातृ-शक्ति

संसार के विश्वस्त इतिहास के जन्म-काल से आज-पर्यन्त के मनुष्य-जीवन और मानव-समाज की आलोचना करने वैठें तो हमें हाथ उठा कर ज़ोर के साथ यह कहना पड़ेगा कि मातृ-शक्ति ही मनुष्य-जीवन और मानव-समाज को उच्च वनाने वाली महा-शक्ति है। वेटी, वहिन या पत्नी के रूप में स्त्री ने समाज का न इतना उपकार किया, न उस पर इतना प्रभाव डाला जितना, माता वन कर। इसीलिए माता का स्थान सवसे, यहाँ तक कि पिता, राजा और गुरु से भी, ऊँचा माना गया है। आर्यनीति-कारों ने अनेक स्थलों पर स्पष्ट कहा है कि माता का ऋण मनुष्य कभी नहीं चुका सकता। कुपुत्र बहुत होते हैं, पर कुमाता नहीं होती। मातृ-महिमा की वावत एक स्थल पर शेख़ सादी कहता है:—

आँ कुन कि रिज़ाय मादरानस्त।

फ़िरदौस ज़ेर कफ़े पाय मादरानस्त।

अर्थात्—वही काम करो जो माताओं की आज्ञानुसार हो, क्योंकि माताओं के पैर के तलुओं के तले स्वर्ग है।

मनुष्य-जाति ने सदा माताओं की पूजा और प्रतिष्ठा की है, भक्तिपूर्वक मनुष्य ने आदिकाल से ही माताओं के आगे सर झुकाया है। पत्नी के रूप में जहाँ स्त्री सेवा करती रही है, वहाँ वह माता के रूप में शासन करती चली आती है। पत्नी आज्ञा मानने वाली होती है और माता आज्ञा देने वाली। मातृत्व का सम्बन्ध ही बच्चों को उनकी साहजिक बुद्धि के अनुसार प्रतिष्ठा करने को बाध्य करता है।

सब कल्पों और युगों में माता ही धारण व पालन करने वाली धर्म का रूपान्तर पाई जाती है, वही संरक्षिका और मनुष्य जाति की आदिम शिक्षिका है। मनुष्य-जाति के ऐतिहासिक रङ्ग-मञ्च पर माता का अभिनय अत्यन्त स्मरणीय और महत्वपूर्ण पाया जाता है। माता के ही हाथ समाजिकता को आरम्भ करने वाले हाथ हैं, माता पालने पर हमें सुला कर उसे हिलाते हुए, सभ्यता के पथ पर अग्रसर करती है, माता ही भाई-बहिनों को परस्पर प्रेम करने की शिक्षा देती है, गान गाकर, सिखाकर भ्रातृ-भाव उत्पन्न करती है। माता ही युवा लड़कों और लड़कियों को दाम्पत्य प्रेम और जीवन की व्यावहारिक शिक्षा देती है—सार यह कि माता ही सामाजिक सम्बन्धों की निर्मात्री शक्ति है, सामाजिकता की

जन्मदात्री है। बचपन के सुख, जवानी के आनन्द, नैतिक और समाजिक योग्यताएँ माता के ही द्वारा प्राप्त होती हैं। माता ही हमें सभ्य बनाती, हमारा जङ्गलीपन छुड़ाती है—नास्ति माता समोगुरुः।

सावयवीय (Organic) प्रकृति का एक महदुद्देश्य माताओं की रचना था। सब से बडा काम जो प्रकृति ने किया यही है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। यह दायित्व माता को पदे-पदे सावधान करता रहता है और बच्चों के हृदय में माता के प्रति नित्य नई श्रद्धा उत्पन्न करता है। प्रकृति के उच्च मन्तव्य में इस बात का नया विश्वास उत्पन्न होता है कि समस्त उद्भिज और पिण्डज-जगत् में उसका अभिमत एक ऐसे कुल का उत्पन्न करना था, जिसे बच्चा देनेवाला प्राणी कहते हैं। समस्त प्राणियों को माता के गर्भ में निवास करना और माता के आश्रित रह कर अपने भावी जीवन के लिए शिक्षा ग्रहण करनी पड़ती है। माता के प्रेम छोटे-बड़े सभी प्राणियों में प्रकट दीखता है। कीड़े-मकोड़े भी अपने अति लघु जीवन में अपने बच्चों के भावी सुख और खान-पान के लिए परिवेष्टित परिकर और वातावरण के अनुसार उचित प्रबन्ध में नहीं चूकते।

इसी प्रकार मकोड़ों, चिड़ियों आदि का परियावेक्षण करते हुए हम क्रमशः मनुष्य-श्रेणी पर पहुँचते हैं, तो हमें मातृत्व की महत्ता कहीं अधिक ऊँची नज़र आने लगती है। कोल,

भील, नागा, परिया जिन्हें महाअविद्या-ग्रस्त जङ्गली समझा जाता है, उनकी माताएँ भी जब अपने प्रथम नवजात बच्चे को गोद में लेकर खेलाती और प्यार करती हैं तो उनके विचार, उनकी भावनाएँ और उनकी परिकल्पनाएँ न जाने कितने उच्च लोक तक उड़ान मारती हैं। माता अपने को भूल कर, अपने परिकर और परिकोटे की परवा न कर के निर्बल और निस्सहाय बच्चे की रक्षा के लिए सर्वथा दया से पिघली रहती है। अपने बेटे-बेटी के लिए ही नहीं किन्तु प्रत्येक प्राणी के लिए, क्योंकि माता बनते ही उसका हृदय दिग्दिगन्तव्यापी करुणा और अनुकम्पा से छलक उठता है। माताओं के ही कष्ट-सहन से मनुष्यता का जन्म होता है और यह मनुष्यता उसके स्वभाव को दिन-दिन अधिक प्रेममयी, उच्च और कृपालु बनाती रहती है। माता इतनी कोमल-हृत्, दयालु, प्रेम-परिपूर्ण होते हुए भी अपने बच्चे की रक्षा के समय प्रबल हिंसक प्राणी के सामने अपने में अमोघ और अतुल चातुरी और बल का अनुभव करती है, और प्राण-विसर्जन करने को प्रस्तुत हो जाती है। माता अपने बच्चों की रक्षा के समय जो वीरता, प्रचण्डता और उग्रता धारण करती है, वह अतुल, अनुपम और आदर्श होती है।

संसार के सारे प्रेमों में बच्चों के प्रति माता का प्रेम सब अवस्था में अत्यन्त दृढ़, अमिट, प्रभावशाली और निस्स्वार्थ होता है। इतनी उत्कृष्ट प्रेम की प्रतिमा संसार में अन्यत्र कहीं

नहीं देखी जाती। माता मनुष्य जाति की अधिष्ठत्री और स्त्री-पुरुष दोनों की समान सम्पत्ति है, दोनों के लिए आदर्श और पूजार्ह है।

माता का आदर्श पृथ्वी-माता में भी मिलता है, वह हमारा पालन करती है, हमें गोद में सँभाले रहती है, हमें खाने को देती है, हमारी सान्त्वना करती है, हममें नित्य अभिनव जीवन, प्राण और शक्ति सञ्चार करती है, और मरने के पश्चात् शान्ति के साथ हमें थके हुए बालक के समान अपनी पवित्र गोद में सुला लेती है।

हम देखते हैं कि सारे भूमण्डल में उत्कृष्ट शक्तियों के नाम और रूप सब स्त्री के ही हैं। सरस्वती, विद्या, वीरता, चतुरता इत्यादि हिन्दुओं में, अक्ल, दानिश, शुजाअत इत्यादि ईरान और अरब वालों में, जस्टिस, इक्वेलिटी, लिबर्टी आदि यूरोप में इत्यादि-इत्यादि।

प्रकट है संसार में किसी ने भी मातृ-शक्ति की अवज्ञा नहीं की, उसे अपराध नहीं लगाया, न उसे भूला। आदर्श माता की सब जगह पूजा होती है; प्रतिष्ठा और प्रीति व परतीत होती है। कल्पान्तर में माता ने वर्तमान पूर्णता प्राप्त की है और दिन-दिन वह मातृत्व ज्ञान के मार्ग पर अग्रसर होती जा रही है।

माता हमेशा यही सोचती, चाहती और विश्वास करती है कि मेरा पुत्र देवमूर्ति, सर्व-गुण-सम्पन्न होगा। अत्यन्त कुमार्गी पुत्रों में भी पूर्ण-स्नेह रखते हुए, माता यही विश्वास करती है कि समय पाकर यह अच्छा हो जायगा। जब पुत्र हिम्मत हार कर, दुखी होकर, कष्ट के समय हतप्रतिभ होकर घर में बैठ जाता है तो माता उसे हँस कर प्रोत्साहन देती है। माता स्वयम् वीरों की तरह कष्ट सहन करने को तैयार रहती है और समय पड़ने पर बच्चों को कठिनाइयों को निर्भीकता के साथ सामना करने के लिए तैयार करती है। भारत के इतिहास-गत वीर-गथाओं में हमारे कथन का जीता-जागता प्रमाण हज़ारों स्थल पर मिलेगा।

माता को बच्चे को जन्म देने में अत्यन्त कष्ट का सामना करना पड़ता है, फिर भी वह बच्चों को जन्म देना अपने बड़े सौभाग्य की बात समझती है। हिन्दू माताएँ अपनी वधुओं को नमस्कार के उत्तर में जो आशीर्वाद देती हैं, उससे उनके हार्दिक भाव का ख़ूब पता लगता है। जब कोई वधू आकर किसी वृद्धा के पावों को स्पर्श करती है तो वृद्धा कहती हैं—'शीलवती सौभाग्यवती, पुत्रवती रहो' अर्थात्—'तुम पति-अनुरक्ता, सौभाग्यवती और पुत्रवती रहो।' इन वाक्यों में हमारी प्राचीन आर्य-सभ्यता का एक छोटा सा इतिहास भरा है, जिस पर प्रत्येक हिन्दू बालक को अभिमान होना स्वाभाविक है। मुसलमानों की सभ्यता भी मातृ-प्रेम और

शार्य से ख़ाली नहीं है, हमें अरब का इतिहास इस बात की साक्षि देता है।

स्त्रियों की क्या यह कम बहादुरी है कि मनुष्य-जाति को नष्ट न होने देने के लिए, उसे संसार में बनाए रखने के निमित्त, निर्बल होते हुए, जान-बूझ कर अपने प्राणों को सङ्कट में डाल देती है। यह मातृ-शक्ति की महिमा है, उसका असीम स्नेह है। सच तो यह है कि माता ही के द्वारा, मनुष्य-भक्ति का सच्चा पाठ, मनुष्य पढ़ सकता है, प्रत्यक्ष सीख सकता है और संसृत के कल्याण के लिए कष्ट उठाने की हिम्मत कर सकता है।

विज्ञान की क्रमशः उन्नति के साथ-साथ हमारा सामाजिक ज्ञान, कर्तव्य-ज्ञान और पवित्र अभिलाषाएँ भी बढ़ती जाती हैं। ज्ञान और ज्ञातव्य के बीच में नई-नई संयोग-शृङ्खला उत्पन्न होती रहती हैं। मन का शरीर पर, शरीर का। मन पर, इसी तरह एक अङ्ग का दूसरे अङ्ग पर, जो प्रभाव पड़ता रहता है, उनसे प्रत्यङ्गों की पारस्परिक समवेदना का पता चलता है। इसलिए समुचित नर-नारी की उत्पत्ति के लिए मातृत्व की पवित्र अवस्था पर भी हमारा विचार रहना ज़रूरी है। आदमी वैसा ही बनता है, जैसा उन्हें माताएँ बनाती हैं। इसलिए माताओं की ज़िम्मेदारी बहुत बड़ी है। माता का असीम प्रेम स्वाभाविक है, किन्तु मनुष्य-जाति के इतिहास के ज्ञान के साथ उन्हें देखना होगा कि वह प्यार सन्तति में

मनुष्यता उत्पादन करने के लिए काम में लाने की आवश्यकता है। माताएँ बच्चों को मनुष्य बनाएँ, उन्हें साँप, बिच्छू और भेड़िए न बनाएँ। हाँ, उनमें इतनी शक्ति अवश्य उत्पन्न कर दें कि वह साँप, बिच्छू और भेड़ियों को समय पर नाश करने में असमर्थ न रहें।

विज्ञान की वृद्धि और वर्तमान जगत् के अनुभव के साथ-साथ हम देखने लगे हैं कि आजकल मानव जगत् में नियम, शृङ्खला और विचार-शीलता जो समाज को हितकारी हैं, थोथे आनन्द के लिए ध्यान से हटा दिये जाते हैं। इसीलिए मनुष्य-समाज के विद्वान चाहते हैं कि बच्चे कम उत्पन्न हों तो चिन्ता नहीं किन्तु जो हों वह निरोग, सुयोग्य, मानव-कुल-भूषण हों।

हम अपने अभागे भारत में देखते हैं कि माताएँ देश की जनसंख्या की वृद्धि बड़े कष्ट सहन करके सीमातीत करती जा रही हैं। यह नहीं देखतीं और समझतीं की इनके बच्चे हाँङ्गकांग, डमरा, केनिया, यूगेण्डा, ट्रान्सवाल, आसाम आदि स्थानों में कुली का काम करते हैं, अथवा विदेशियों का मुँह १५)-२०) रुपये मासिक की नौकरियों के लिए ताकते रहते हैं। माताओं को जान लेना चाहिए, उनका धर्म है कि शेर, शूर, वीर, ज्ञानी, मनुष्य-कुल की प्रतिष्ठा बढ़ाने वाले बच्चों को जन्म देना, न कि गीदड़ों से देश को भरना। भीख माँगने वाले, बिना घर-बार सड़कों पर दिन-रात बिताने वाले, दूसरों

के लिए रात-दिन श्रम करके भूखे सोने के लिए बाध्य मनुष्य नारी हो या नर, न अपना मुँह उज्ज्वल करता है न अपने माता-पिता का, न अपनी जाति, अपने देश और मनुष्य-समाज का।

एक नीतिकार कहता है कि—

गुणिगण गणनारम्भे न पतति कठिनी यस्यसम्भ्रमः।
तस्य माता यदि सुतनी वद वन्ध्या कीदृशी नाम।

अर्थात्—"गुणियों में जिसका नाम पहले न आया उस की माता भी पुत्रवती कहलाती है तो फिर वन्ध्या कौन सी है?" यहाँ कवि व्यङ्ग के साथ कहता है कि गुण, हीन, गीदड़ को जो माता जन्म देती है, वह वन्ध्या के समान है। मातृ-शक्ति चाहे तो देश की इस बुराई को हटा सकती है। हमें आशा है कि भावी और वर्तमान माताएँ इस ओर ध्यान देंगी। बहुत बच्चों के जन्म से देश का महत्व नहीं बढ़ता, किन्तु मनुष्य-समाज-हितकारी बच्चों की उत्पत्ति से देश पूज्य और प्रतिष्ठित होता है। सुस्थ माता-पिता सुस्थ बच्चों को जन्म दें, उन्हें मनुष्योचित स्वाभिमान, देशाभिमान, सांसारिक ज्ञान से परिपूर्ण करें। इसके विपरीत आचरण से देश को निकम्मे आदमियों से भरनापाप है।

माता को उचित है कि एक सन्तान होने के बाद पाँच वर्ष पर्यन्त, बल्कि सात वर्ष तक दूसरी सन्तति को जन्म देने

का कष्ट न उठावें। नर-नारी का विवाह-संयोग तभी होना उचित है, जब वह उत्तम सन्तान पैदा करने की कामना करें। हमारी समझ में सन्तान-निग्रह के उचित उपाय बुरे नहीं हैं। हम कभी दूसरे लेख में इस विषय पर तर्क करेंगे। क्योंकि बहुत समय तक बलात् ब्रह्मचर्य रखने से नर-नारी दोनों के स्वास्थ्य को हानि पहुँचती है, यह विज्ञान सिद्ध बात है। आयुर्वेद इस विषय में बहुत सी ज्ञातव्य बातें बतलाता है।

प्रत्येक दम्पति को सावधान किया जाता है कि गर्भस्थिति के बाद काम-वासना की तृप्ति के लिए उनका मिलना गर्भाशय को ख़राब करता है, गर्भस्थ प्राणी और उसकी माता को बहुत हानि पहुँचाता है।

एक अङ्गरेज़ हम एशिया-निवासियों पर व्यङ्ग करता है और कहता है कि "चीनी और हिन्दुस्तानी अधिक सन्तान उत्पन्न करने वाली जातियाँ हैं, इस मामले में इनसे बढ़ी-चढ़ी और कोई जाति नहीं है। लेकिन किसी जाति का बड़प्पन मोल से होता है तोल से नहीं। अर्थात् गुण से जाति पुजती है, बहुत आदमी होने से नहीं। बहुत से कपूत किसी काम के नहीं, थोड़े से सपूत सब कुछ होते हैं। एक मज़बूत ऐङ्गलो सेक्शन करोड़ों की संख्या वाले दस निर्बल से लोहा ले सकता है।" क्या यह बात एशिया वालों के विचार करने की नहीं है? इसलिए हमने कहा है कि अगर हम शेर पैदा कर सकते हैं तो करें, और गीदड़ों का पैदा करना बन्द कर दें।

आर्य विद्वानों और जर्मनी के शास्त्रज्ञों का मत है कि—

१—पुरुषों को २५ वर्ष की अवस्था के पहले विवाह न करना चाहिए। अगर करेंगे तो उनके बच्चे सुस्थ और शक्तिशाली न होंगे।

२—कोई स्त्री जो तीस वर्ष से कम अवस्था की हो, ३०-३५ वर्ष की अवस्था तक हो, उसे चाहिए कि ५० वर्ष से अधिक अवस्था वाले पुरुष के साथ विवाह न करे। हाँ, यदि वह निर्बल और रोगी सन्तान उत्पन्न करना चाहती हो तो दूसरी बात है।

३—जब तक सारे अङ्ग परिपक्व व परिपुष्ट न हो जायँ, स्त्रियों को सन्तानोत्पत्ति की ओर ध्यान न देना चाहिए। अच्छा हो जो २५ वर्ष की अवस्था तक स्त्रियाँ माता बनने की चेष्टा न करें।

इङ्गलैण्ड में भी ५,०००,६,००० स्त्रियाँ प्रसूतिका-गृह में प्राण विसर्जन कर देती हैं। भारत में इस तरह की मरने वाले लड़कियों की संख्या और भी अधिक है। इससे स्पष्ट है कि इस सम्बन्ध में सामाजिक सुधार की बड़ी ज़रूरत है। अन्य देश की महिलाओं ने इस पर ध्यान दिया है, परन्तु भारत के कट्टर हिन्दू मुसलमान अभी आँखें बन्द करके गढ़े में उतरने को तैयार देखे जाते हैं। आजकल भी शारदा-ऐक्ट के विरोध में मौलवी साहब और पण्डित महाराज ज़मीन और आकाश हिलाये डालते हैं।

एक विद्वान् कहता है कि स्त्री-पुरुष संयोग सन्तानोत्पत्ति के लिए है। जब किसी पुरुष और स्त्री में सन्तानोत्पत्ति की योग्यता पैदा हो जाय—नर को नारी की और नारी को नर की आवश्यकता प्रतीत होने लगे, तो दोनों मिलकर सन्तान उत्पन्न कर सकते हैं। बलात् ब्रह्मचर्य रखने से स्त्री हो या पुरुष सन्तान उत्पन्न करने की योग्यता खो बैठता है। इसलिए बलात् ब्रह्मचर्य का बन्धन और अवस्था व्यवस्था का झगड़ा सब पर न लगाना चाहिए। आवश्यकता होने से सन्तान-निग्रह के साधन काम में लाए जा सकते हैं। लेकिन हम यहाँ इस विद्वान् के मत पर सविस्तर लिखना नहीं चाहते।

एक मूर्ख घमण्डी ऐङ्गलो सेक्शन कहता है कि अङ्गरेज़ों को अपना शाही रक्त शुद्ध रखने के लिए रङ्ग वाली स्त्रियों में सन्तान उत्पन्न न करनी चाहिए। माँओं को चाहिए कि अपने पुत्रों को समझाया करें, ताकि वह ऐसा निषिद्ध काम न करें। इस बेचारे को स्वतन्त्रता, प्रेम-स्वातन्त्र्य मनुष्य-जाति मात्र के बन्धुत्व का क्या पता? यह तो अपने जातीय प्रेम और विजातियों के प्रति द्रोह के नशे में चूर है। इसी नीच मनोवृत्ति को अङ्गरेज़ी में Chauvinism (शोविनिज़म) कहते हैं। जो हो, अब २० वीं सदी में यह बेहूदगी नहीं चल सकती। अब तो मनुष्य मात्र की एक जाति होगी। मनुष्य का बच्चा किसी मनुष्य की ही बच्ची के साथ विवाह करता

है तो उसमें पाप नहीं; परन्तु विवाह स्वच्छन्द प्रेम से हो, अन्य किसी कारणवश नहीं।

लेकिन एक बात अवश्य ही संयुक्त होने वाले लड़के और लड़की को समझ रखना चाहिए कि सन्तति में माता-पिता के गुणों, दोषों और स्वभाव का प्रायः प्रभाव देखा जाता है, जिसे अङ्गरेज़ी में Heredity (हिरेडिटी) कहते हैं। माताएँ अपना अधिक प्रभाव सन्तान पर डालती हैं, इसलिए अगर वह चाहें तो अपने शरीर को सुस्थ रख कर अपने बच्चों को अच्छा बना सकती हैं। बहुधा यह भी देखा गया है कि माताएँ अपने सद्भाव, सद्विचार और प्रेम से बच्चों को जीत लेती हैं और उनमें पिता के अवगुण जो आते हैं उन को मिटा देती हैं।

यह लेख भविष्य वर्ष २ खण्ड १ सं० १ में सत्य वीर के नाम से मैंने लिखा था।

स्त्रियाँ और कामवासना

बहुतों का यह कहना है और बहुत बड़ी हद तक ठीक भी है कि स्त्रियों की भिन्न अर्थात् नीची परिस्थिति का कारण उनके लिंग की विशेषता है। स्त्रियों को स्त्री होने के ही कारण उन्हें पुरुषों पर निर्भर होना पड़ा। लेकिन यह बात हम आजकल की अवस्था और व्यवस्था को देखकर कह सकते हैं, बहुत प्राचीनकाल में यह बात न थी। क्योंकि मनुष्य पशुता से उन्नत होकर मनुष्यता तक पहुँचा है। पशुओं में लिंग भेद के कारण नर मादा को छोटा नहीं समझता, न मादा नर से निर्बल ही होती है। इससे स्पष्ट है कि आरम्भ में मनुष्य में ऐसा भाव नहीं था जिसकी इस लेख के आरम्भ में चर्चा की गई है। अफ्रीका, आस्ट्रेलिया और एशिया की अनेक जातियों में जिनको सभ्यता का रोग अभी तक नहीं चिमटा, हमारे कथन की पुष्टि करते हैं। स्त्री और श्रम' (Woman and labour) नाम की पुस्तक में 'Olive

schreiner' ने स्त्रियों के क्रमशः पराधीन होने का युक्ति-युक्त वर्णन किया है। बेबिल Bebel प्रभृति और भी अनेक लेखकों ने इस विषय पर जो प्रकाश डाला है वह समीचीन प्रतीत होता है। धनसत्ता की वृद्धि के साथ-साथ भोग-विलास की भी वृद्धि हुई। इस क्रिया में नैसर्गिकता और प्रेम के स्थान को कृत्रिमता और हीन वासनाओं ने आत्मसात् कर लिया। तब एक आत्मबल और साधन का बहाना निकला, मानों निसर्ग को मध्यगामी बनाये रखने के लिए स्वाभाविक वासना के विरुद्ध काम का नाश करनेवाला दुधारा तैयार किया गया।

कितने ही अभिमानी, पाण्डित्य और चातुर्य्य के अजीर्ण से पीड़ित बहक उठते हैं कि 'स्वाभाविक' कामेच्छा (जिसे हमने कामवासना कहा है) नर नारी वश में कर सकते हैं। काम की सन्तृप्त कोई ऐसी आवश्यकता नहीं है जिसकी उपेक्षा न की जा सके। हमारे देश के नये और पुराने सभी महात्माओं में, इस मामले का जहाँ तक सम्बन्ध है, बुद्धि-अजीर्णरोग पाया जाता है। क्योंकि इनकी राय में जो मनुष्य बिना आहार, वायु और प्रकाश के नहीं जी सकता, वह अपनी भूख, प्यास और शङ्काओं को बिलकुल रोकने में असमर्थ है किन्तु नैसर्गिक मैथुन की इच्छा को वह अनायास ही रोक सकता है। काम संतृप्ति कोई आवश्यकीय बात नहीं है।

नोट—हीन काम वासना-धन को बीच में डालकर तृप्त की जाती है। स्वाभाविक वासना प्रेम जनित काम वासना है।

सुतरां इस संतृप्ति के कारण जो पराधीनता होती है उससे हम सहज ही बच सकते हैं।

अब पाठक मुझसे सुनें कि संसार की नैसर्गिक प्रगति हमें क्या प्रत्यक्ष कराती है। कोई विरला मनुष्य ऐसा बाल्य-काल से अभ्यस्त हो गया हो जो नामर्दों की तरह अपना जीवन सुखेन व्यतीत कर दे तो उसका होना असम्भव नहीं कहा जा सकता। लेकिन याद रहे कि निसर्ग के इस नियम के तोड़ने का दण्ड उसे पूरा-पूरा उठाना पड़ता है। क्योंकि निसर्ग ने प्राणियों के जोड़े सृष्टि में उसके वंश को स्थिर रखने के हेतु बनाये हैं, इसीलिए प्राणी मैथुन को छोड़ नहीं सकता। एक दो निसर्ग के विरुद्ध चलने वाले अति ज्ञानी प्रकृति के नियम को नहीं बदल सकते। जैन तीर्थङ्कर, बुद्धदेव, महात्मा मसीह और महात्मा गांधी सारे संसार को नितान्त शान्तिशील बनाने में अपनी हार मान कर मैदान से हट गये, तो अब वह कौन सी शक्ति है जो संसार के नर-नारियों को प्राण-हीन, केवल ज्ञान, बनाकर शान्ति की मूर्ति स्थापित कर सकता है? मैंने इन महात्माओं के नाम इसलिए गिनाये हैं कि यह सब चाहते थे कि लोग मैथुन छोड़ दें और सीधे आनन्दलोक में जा बसें। सिवा महात्मा गांधी के सब एकाकी तपस्वी थे। महात्माजी अभी वर्तमान हैं इसलिए उनके आश्रम और शिक्षा के फल पर विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं जो चाहें उनके समीप रह कर देख सकते हैं। सारांश यह

कि कोई इक्का दुक्का व्यक्ति ऐसी सामजिक परिस्थिति को नहीं वदल सकता जो मनुष्य में स्वाभाविक है। इसलिए जो जवाव महात्मा लोग देते हैं वह ऊपरी और निस्सार है।

इस विषय में मार्टिन लूथर की उक्ति ठीक जँचती है। वह कहते हैं कि "जो स्वाभाविक मानसिक अनुरोध या प्रगति का विरोध करता है और प्रकृति के काम में वाधा डालता, है, उसे अपना काम करने के लिए स्वतन्त्र नहीं छोड़ता, वह निःसन्देह यही चाहता है कि प्रकृति न रहे। आग से जलाने का, पानी से भिगोने का काम छुड़ा दिया जाय और मनुष्य का खाना, पीना, सोना आदि वन्द कर दिया जाय।" हाँ, एक वात मनु वावाकी अवश्य सारगर्भित मालूम पड़ती है और वह यह है कि एक स्त्री के साथ पुरुष ऋतुगामी रह कर जीवन व्यतीत करे तो वह ब्रह्मचारी ही है।'

वासनाएँ शारीरिक हों अथवा मानसिक, अनर्थ बरावर करती हैं।

स्त्री पुरुषों का संयोग एक प्राकृतिक पवित्र नियम है, जो मनुष्य को सुखी, सुस्थ, प्रसन्न और नियमानुसार जीवित रखता है। जो शरीर के किसी भी अवयव को उसके नैसर्गिक काम से रोकेगा वह उसे और उसके सारे शरीर को निकम्मा वना डालेगा। नैसर्गिक वासनाओं की संतृप्ति से इन्कार करना भूल है। जो अवयव जिस काम के लिए वना है वह उस काम को अवश्य करे। यदि ऐसा न होगा तो उसका

वह अवयव जो अपने काम से रोका जायगा, लुञ्जा और बेकार हो जायगा। यहाँ तक कि सारा शरीर एक प्रकार से दूषित होकर रहेगा। मनोविज्ञान का अध्ययन करके जैसे मानसिक क्रियाओं को उपयोगी बनाने की चेष्टा करते रहते हैं उसी तरह हमें शरीर के सम्बन्ध में भी करना चाहिए। बिना शारीरिक सुस्थता के मानसिक सुस्थता और बिन मानसिक सुस्थता के शारीरिक सुस्थता का स्थिर रहना असम्भव है। शारीरिक या पाशविक वासनाओं और मानसिक वासनाओं का दर्जा बराबर है। एक का दूसरे पर परस्पर प्रभाव पड़ता है।

स्त्री और पुरुष को मिलाकर हिंदू शास्त्रों ने पूरा शरीर माना है, इसी से स्त्री पुरुष की अर्द्धङ्गनी कही गई है। इसी को जर्मनी के दार्शनिक शिरोमणि "कांट" ने भी माना है। "स्त्री और पुरुष संयुक्त होकर एक पूर्ण प्राणी का प्रतिष्ठान करते हैं, एक दूसरे की अपूर्णता को दूर करके पूर्ण बनाते हैं। शॉपेनहार और मेनलाएडर के सिवा भगवान् बुद्धि कहते हैं कि कन्दर्प का बाण हाथी को वशवर्ती करने वाले अंकुश से कहीं अधिक तीक्ष्ण है। यह अग्नि ज्वाला से अधिक तप्त होता है, यह वह बाण है जो शरीर को नहीं किन्तु मनुष्य के हृदय (दिल) को वेधता है। क्या यह निसर्ग का काम व्यर्थ है? इसका विरोध प्राणी कर सकता है? संयम दूसरी चीज़ है और यावज्जीवन ज़बरदस्ती अटल ब्रह्मचर्य के रखने की

घोर अनर्थकारी बात दूसरी है। यह बात स्त्री और पुरुष दोनों पर एक समान घटती है। विधवा और वृद्ध विवाह की रोक अनर्थ के हेतु होते हैं। यह हम भारतवासी प्रत्यक्ष देख रहे हैं। हाँ धन, बल या छल से अनमेल विवाह हो यह समाज के लिये अहितकर।

यह बात कुछ जँचती है कि स्त्री हो या पुरुष यदि धार्मिक भावना से ब्रह्मचर्य रखे तो अच्छा ही है। लेकिन मेरा वैयक्तिक अनुभव इस सिद्धान्त के विरुद्ध जाता है। मेरी स्त्री का देहान्त सन् १८६४ में हुआ, जब कि मैं केवल २८ वर्ष का युवक था। मेरे घराने में विधवा विवाह की प्रथा नहीं थी। मेरे पिता ने मुझे विधवा-विवाह करने से रोका। अतः मैंने प्रतिज्ञा कर ली कि मेरे मरने पर जिस प्रकार मेरी स्त्री वैधव्य की यातनाएँ भोगती, मैं भी उसके मरने पर वही कष्ट उठाऊँगा। इसका फल यह हुआ कि मुझे ध्वजभंग रोग हो गया। फिर मैंने एक पुस्तक में जिसका नाम Elements of Social Science है पढ़ा कि बलात् ब्रह्मचर्य रखने से ध्वजभङ्ग ही नहीं वरन् और भी अनेकों रोग हो सकते हैं। मेरे एक सम्बन्धी की पुत्री १८ वर्ष की अवस्था में विधवा हुई और २५ वर्ष की आयु में पागल होकर मर गई। इसका कारण बलात् ब्रह्मचर्य ही था।

इसी विषय में डाक्टर हेगरिश मालथस के जन संख्या सिद्धान्त के अनुवादक लिखते हैं कि—

' Although I agree with malthus as to the value of virtuous abstinence, the sad conviction is forced uqon me as a physician, that the chaste morality of women, which though it is certainly a high virtue in our modern state, is none the less a crime against nature, not unfrequently revenges itself by the cruellest sort of disease. It it as certain that the virtuous abstinence of women is no rare cause of morbid processes in the breasts, the ovaries and the uterus as it is childish to fear the effects of continece or of natural self help in men. In as much as these diseases do not attack vital organs, they are a greater source of torment to their unhappy victims than almost any others...........'

"यद्यपि धर्मपूर्वक कामवासना के निरोध की अच्छाई के सम्बन्ध में मैं तो मालथस साहब के साथ सहमत हूँ, तथापि मेरा डाक्टरी का अनुभव मुझे बतालाता है कि नारी जाति का कामवासना को रोकने का उज्वल चरित्र वर्तमान युग में एक सर्वोच्च गुण माना जाने पर भी एक प्राकृतिक पाप है जिसका दण्ड बुरे-बुरे रोगों द्वारा मिलता है। यह भी अनुभव कुछ बहुत कम नहीं है कि स्त्रियों के इस धर्मयुक्त निरोध से

उनकी छाती गुह्येन्द्रिय और जननेन्द्रिय में ख़राबियाँ पैदा हो जाती हैं। इसी निरोध से पुरुषों में भी हानि की सम्भावना कम नहीं होती। यह मानना पड़ेगा कि इस प्रकार के रोगों का पुष्ट इन्द्रियों पर बहुत ज्यादा प्रभाव नहीं पड़ता। परन्तु यह रोग अभागे रोगियों को और किसी भी रोग की अपेक्षा अधिक कष्ट देते हैं।

बलात् ब्रह्मचर्य का जो फल नर नारी पर होता है उसका पता देश देशान्तर के अंकों से मिलता है।

सार यह है कि वह समाज बड़ा अभागा और पापिष्ठ है जो किसी पुरुष या स्त्री को बलात् ब्रह्मचर्य रखने के लिये बाध्य, प्रेरित या प्रलोभित करता है। ऐसे समाज की शक्ति घट जाती है, स्वास्थ्य बिगड़ जाता है। हिन्दुओं की ग़ुलामी के अनेक कारणों में से एक यह भी है।

लोग कहते हैं गृहस्थ जीवन की जड़ है और कुटुम्ब का आधार विवाह है और कुटुम्ब समाज का संविधायक है। इसलिये विवाह सम्बन्धी रीति रिवाजों पर वार करोगे तो समाज का, देश का, जाति का, धर्म का सर्वनाश हो जायगा। ठीक है; महाशय, मैं भी विवाह का दुश्मन नहीं हूँ किन्तु तनिक सोचना चाहिये कि विवाह कैसा हो किस ढंग से हो।

आज कल भारत में गुड़ियों और गुड्डों के विवाह होते हैं, विवाह में वर कन्या का हाथ कुछ नहीं होता । माता-पिता विवाह का ढकोसला करते हैं, नाई ब्राह्मण पैसे के लिये बेहयाई और निर्दयता से काम लेते हैं । विवाह का अर्थ है, एक दासी लाकर घर में बिठाना और उस पर मनमानी हकूमत करना । क्या यह सब घोर अत्याचार की बातें नहीं हैं ? दुःख है कि हिन्दू धर्मशास्त्र भी इस .गुलामी को उचित और जायज़ बतला कर इसके जीवित रहने में सहायक हो रहे हैं ।

कानून और सरकार

संसार के सभी देशों में लोगों का ऐसा ख़याल है कि समस्त सामाजिक, राजनैतिक और धार्मिक रोगों की एक मात्र महौषधि कानून है। जिस तरह बच्चों को खिलौने देकर उनके माता पिता या अभिभावक बहलाया करते हैं उसी प्रकार राज्य अधिकारीगण भी जनता को उद्विग्न और उत्तेजित देख कर एक न एक कानून या कमीशन का खिलौना देकर उसे बहला देते हैं। इतने में उत्तेजना समय पाकर स्वयम् शान्त हो जाती है। दुःख इस बात का होता है कि सरकार जिस काम को छल से धोका देने के लिए किया करती है, उसीको जनता के लोग, लीडरगण, शुद्ध हृदय से जनता की भलाई समझकर सरकार से कराने का आग्रह किया करते हैं। यह अपनी पटु मूढ़ता से निश्चय किये बैठे हैं कि सारी बुराइयों का इलाज कानून है। जिस दोष को हम स्वतः दूर कर सकते हैं, उसे दूर करने के लिये, दूषित प्रथाको उठाने या बदलने के लिए, हम सरकार के सामने एक नये कानून की माँग पेश करते हैं। यह

तमाशा हम हर रोज कौंसिलों की कार्रवाई में प्रत्यक्ष देख सकते हैं।

यह हमारी अन्तस्तल में बैठी हुई गुलामी का कुफल है कि हम से राह चलते किसी पुलिस के नौकर ने, या किसी पबलिक बिल्डिङ्ग में जाते हुये उसके दरवानने अभद्रता का व्यवहार किया तो हम कहने लगते हैं कि इस प्रकार के दुर्व्यवहार को रोकने के लिए कानून होना चाहिये। अगर ग्राम की सड़क खराब रहती है, तो कानून बनना चाहिये। खेती बारी, पशुपालन, व्यापार आदि में कोई अड़चन नजर आई कि नये कानून की अवश्यकता की पुकार मची। जहां कारखाने वालों ने मजदूरों की मजदूरी घटाई या नियत से अधिक काम लेने की व्यवस्था की, कि मजदूरों का कानून की जरूरत पड़ी; और मजदूरों ने हड़ताल की तो धनिकों ने तुरन्त उनके विरुद्ध कानून बनवाया। पानी की कठिनाई, फसल की खराबी, मुहल्ले में कुत्तों की वृद्धि, दुर्भिक्ष—सभी को मानो कानून दूर कर सकता है। इस लिये हम लोग बात बात पर नये कानून बनवाने के पीछे पड़े रहते हैं। हमारा पिछला अनुभव बतलाता है कि कानून क्या है, उससे क्या हो सकता है और इसका उपयोग कैसे होता है।

अमीरों की बात जाने दीजिये क्योंकि सरकार उनके ही दलभुक्त लोगों की बनी होती है। अमीरों को अपनी सुविधा के लिए नया कानून बना कर या बिना कानून ही अपना अर्थ

सिद्ध करना साधारण बात है। पर साधारण जनता को इतना ज्ञान नहीं कि प्रत्येक कानून जो व्यवस्थापिका सभाओं के कारखाने में ढलता है, चाहे किसी बहाने, किसी अभिप्राय से क्यों न तैयार किया जाय गरीबों को पीसने के लिए सरकारी नौकरों के हाथ में एक नई चक्की का काम देता है, जनता को चूर्ण करने के लिये नया स्टीम रॉलर बन जाता है।

हर समय, हर जगह, हर काम के लिए हमें कानून की जरूरत नहीं होती। कुत्ते बिल्ली के लिये कानून, माँग संवारने के लिये कानून, स्त्रियों के महीन कपड़े पहिनने के लिए कानून, बीड़ी सिगरेट पीने के लिए कानून, सार यह कि प्रत्येक मानवीय निर्बलता, मूर्खता और कायरता के लिये कानून का माँगना बड़ी हँसी की बात है। आवश्यकता है कि हम में आत्मशक्ति हो और बुराइयों को दूर करने की दृढ़ इच्छा हो; जिससे हममें बुराइयों के विरुद्ध विद्रोह करने का साहस, तेज और उत्तेजना उत्पन्न हो।

बाबा, कानून का मूल अज्ञान है। एक फ्राँसीसी विद्वान जो स्वयम् कानून बनानेवाला और कानून को बड़े आदर और श्रद्धा की दृष्टि से देखनेवाला था अपने एक कानूनी संग्रह में लिखता है:—

When ignorance reigns in society and disorder in the minds of men, laws are multiplied, legislature is expected to do every thing and each fresh-

law being a fresh miscalculation, men are continually led to demand from it which can only proceed from themselves, from their own education and their own morality.

अर्थात्—"जब समाज में मूर्खता और लोगों के मनों में दुर्व्यवस्था का साम्राज्य हो जाता है, तब कानून दिन दूने बढ़ने लगते हैं। लोग समझते हैं कि कानून सब कुछ कर देगा। परन्तु हर एक नया कानून एक नया भ्रम या अविचार सिद्ध होता है। फिर भी लोग लगातार उससे वही चीज माँगा करते हैं जिसे वह स्वयम् अपनी शिक्षा और नीतिमत्ता से कर सकते हैं।"

लेकिन हम को बाल्यकाल से ही ऐसी शिक्षा मिलती है जिससे हम पथभ्रष्ट हो जाते हैं; जो हम में से विरोध और विद्रोह की शक्ति हर लेती है। और जबरदस्त के अँगूठे के तले सर झुकाकर चुप रह जाने का कुभाव उत्पन्न कर देती है। उसके फल से हम स्वयम् खुशी खुशी कानून और सरकार का दुधारा अपने सर पर लटका लेते हैं। सहस्रों वर्ष से हमारे कान में लगातार यह ध्वनि होती आ रही है कि 'कानून की प्रतिष्ठा करो' 'अधिकारियों की आज्ञा का पालन करो'। यही हमारे माता पिता गोद में हमें बतलाते, यही पाठशालाओं में हमारे शिक्षक सिखाते और पढ़ाते हैं। गंदी, अशुद्ध और चालाकी से भरी हुई बातें हमारे शिरों में राजनीति दर्शन और

राजनीतिक विज्ञान के नाम से ठूंस कर हमारे मनों को दासता की बेड़ी से जकड़ दिया जाता है।

सरकारी गुलामी की तरह धर्म की गुलामी भी कुछ बने हुए महापुरुष किसी न किसी नाम और रूप से हमारे गले बाँध देते हैं। धर्मशिक्षा हमें राजा की गुलामी करना अपना एक अंग बतलाती है, उधर सरकार भी देश के प्रचलित धर्म को मानना बड़ी आवश्यक बात ठहराती है। इस तरह 'मन तुरा हाजी बुगोयम तू मरा हाजी बुगो' की मसल चरितार्थ होकर मनुष्यों की प्राकृत स्वतंत्रता का खून हुआ और रोज होता जा रहा है। धर्म पुस्तकें, इतिहास, राजनीतिक विज्ञान और दर्शन सारे का सारा साहित्य इसी विष से भरा पड़ा है। विशुद्ध विज्ञान से भी इन्हीं विषाक्त ग्रंथों के मुहावरे, इन्हीं की परिभाषाएँ हमारे मनों को कलुषित करती हैं। हमारा जीवन कानून के शिकञ्जे में ऐसी बुरी तरह कस दिया गया है कि हम पराये निर्दिष्ट मार्ग को छोड़कर अपने कल्याण का मार्ग स्वतः बना ही नहीं सकते। जैसे कल से निकला हुआ पानी निर्दिष्ट नलों में निर्दिष्ट परिमाण में चलता है, हम भी उसी तरह पराधीनता के हाथ में पड़े दिन काटते हैं, कानून बनानेवाले बाजीगरों के हाथों में पुतली की तरह नाचते हैं। हमारे जीवन की प्रत्येक घटना कानून से बँधी होती है, हम दूसरों के द्वारा पशु की भाँति हांके जाते हैं। हमारा जन्म हमारी शिक्षा, हमारी उन्नति, हमारा प्रेम, हमारा खान-पान, उठना-बैठना, सोना-जागना–सभी राजनियमों या

धर्मगुरुओं की आज्ञाओं के अधीन हो रहे हैं। इस दशाने हम में से विचार शक्ति और किसी नये काम के करने की योग्यता हरली है। कुछ दिन और यही बात रही तो हमें बिलकुल गूंगे बहरे पशु बनकर रहना होगा।

हमारी समाज ने मानों इस बात को मान लिया है, कि हम जैसे बिना हवा और पानी जिन्दा नहीं रह सकते वैसे ही बिना कानून जीना असम्भव है। हमें प्रतिनिधि सरकार, जो थोड़े से शासकों से संचालित होती है, अनिवार्य रूप से जीवन यात्रा के लिए दरकार है। यह भाव इतना दृढ़ हो गया है कि जब किसी देश के निवासी क्रान्ति के बल से गुलामी की जंजीरें तोड़ते हैं तो तुरन्त दूसरी सरकार बनाने के पीछे पड़जाते हैं।।पूर्ण स्वतंत्रता का जीवन एक दिन मुशकिल से ठहरता है।

कानून की गुलामी हमारे लिये एक धर्म का काम बन गई है। सम्वादपत्र भी रातदिन गला फाड़ फाड़ कर हमें कानून की प्रतिष्ठा का ही उपदेश देते रहते हैं और साथ ही नित्य प्रति कानून की निर्बलता, निस्सारता और दुर्व्यवहार की शिकायत भी करते जाते हैं। कानून पेशा लोग—वकील और वैरिस्टर जब अवसर और अधिकार पाते हैं तो उसी कानून-पुष्टि के दुष्ट सिद्धान्त के समर्थन में अपनी सारी शक्ति को लगा देते हैं। ये एक ओर जनता के पूर्ण अधिकारों की दुहाई देते हैं,

और मानते हैं कि जनता अपनी समाज के सञ्चालन की नीति स्वयम् स्थिर करने की अधिकारी है। दूसरी ओर यही लोग एक व्यक्ति को अधिकार देते हैं कि वह जनता के प्रतिनिधियों के मन्तव्य को जब चाहे ठुकरा दे और अपने मनमानी बात को प्रधानता दे। क्या इसे कोई बुद्धिमान पुरुष ठीक मान सकता है ? क्या इन दोनों में सामञ्जस्य है ? पर नहीं, वर्तमान शासन पद्धति में, प्रतिनिधि सत्तात्मक राज्य में भी, प्रतिनिधि बनने वालों का काम स्वार्थ साधन ही होता है। संसार के सभी देशों की यही गति है। हमारे देश के अधिकार प्राप्त लोग भी यही चाहते हैं कि गोरी नौकरशाही के स्थान में काली नौकरशाही हो जाय तो हमारे और हमारे उत्ताधिकारियों के पौवारह हों।

निर्वाचन अधिकारों में भी हम देखते हैं कि न्यायाभिमानी कानून, न्याय की जड़ पर, समता के सद्धिन्त पर कुल्हाड़ा मारते हैं। जिनके पास ३ रुपया या १५ रुपया मासिक भाड़ा देने को नहीं है वह न प्रतिनिधि बन सकते हैं न चुनने में सम्मति दे सकते हैं। क्या इसका साफ़ मतलब यह नहीं है कि जिनका खून चूस कर अधिकार सम्पन्न लोगों ने फेंक दिया है, उनको समाज की अवस्था और व्यवस्था में बोलने का अधिकार नहीं। हमारा विवेक कहता है कि यह न्याय नहीं है, समता नहीं हैं, नीति नहीं है, स्वतंत्रता नहीं है-पर कानून जरूर है। हम को स्वयम् आँख खोल कर देखना

चाहिये कि हम कानून और सरकार को कितने दिन तक अपनी छाती पर पत्थर की तरह रखा रहने देंगे।

[२]

पहिले लेख में बतलाया जा चुका है कि बहुकाल व्यापी दासताने मनुष्यों को इतना जड़ बना दिया है कि वह रोटी खाने के लिये भी धर्मशास्त्र की आज्ञा ढूँढता है और जानना चाहता है कि मैं क्या खाऊँ, कैसे खाऊँ ? बात-चीत करने के समय वह आवश्यक समझता है कि एक बार इस बात को जान ले कि देश के दण्ड संग्रह में शिष्ट और अशिष्ट की क्या परिभाषा है, श्लील और अश्लील में क्या अंतर रखा गया है।

क़ानून बनाने वालों के दिमाग की बारीकी और भी हमारी बुद्धि को चक्कर में डाल देती है। किसी स्त्री या पुरुष का नग्न चित्र खींचा जाय तो वह अश्लील और घोर असभ्यता फैलाने वाला समझा जाता है; लेकिन तभी तक जब तक कि चित्र के नर नारी विभाजक प्रधान चिन्हों को किसी फूल या पत्ती या और किसी छल से छिपा न दिया जाय। जहाँ जरा सी कृत्रिमता से ये अङ्ग छिपा दिये गये कि सारी अश्लीलता, श्लीलता में परिणत हो जाती है। इस तरह कला-कौशल के सर पर भी क़ानून का डंडा हर दम मौजूद नज़र आता है।

कितने ही लोग इन्हीं बेसिर पैर, तर्क और युक्तिहीन क़ानूनी बारीकियों में अपना जीवन नष्ट कर देने के कारण बड़े नामी डाक्टर, बैरिस्टर वकील, पंडित और मौलाना के उच्चनिगादी नामों से संसार में विघोषित हो रहे हैं। यह लोग जहाँ एक ओर लम्बी चौड़ी वक्तृताओं से क़ानून की व्याख्या करते और उसका महत्व स्थापित करते रहते हैं, वहाँ दूसरी तरफ़ थोड़े से विद्रोही हृदय भी पाये जाते हैं जो आँख बन्द करके क़ानूनों का सत्कार करना बुरा समझते हैं। ये लोग जानना चाहते हैं कि यह अनुशासन या क़ानून कहाँ से आया, किसने बनाया, क्यों बनाया, इससे लाभ क्या, हम इसे क्यों मानें, क्यों हम इसके मानने के लिये बाध्य हैं, इसकी प्रतिष्ठा हमारे लिये क्यों लाजिमी है।

आज कल तो लोग समाज की जड़ की पडताल में लगे हैं, उसी की तीव्रतर आलोचना करते हैं। जिन बातों को लोग धर्माज्ञा और पवित्र नियम समझे बैठे हैं, उन्हीं को वह उखाड़ फेंकने में मनुष्य जाति का कल्याण समझते हैं, क़ानून बिचारा क्या है। संसार में जड़ मूल से क्रांति की आवश्यकता है, क़ानून का भूत तो एक ओर रहा।

यह समालोचक समूह निर्भान्त रूप से जान चुका है, वर्तमान सामाजिक प्रथा या समाज शास्त्र में धर्म और राज-नीति को समाविष्ट करनेवाले खूब समझते हैं; विश्लेषण करके देख चुके हैं कि क़ानून के उद्गम स्थान दो ही हैं—एक तो

ईश्वर जिसका मिथ्या भय दिखाकर पुरोहित मण्डल ने जनता को भरमाया और हर बात में अलौकिकता की भ्रांति मूलक ढोंग अड़ाई। संसार को अन्धविश्वास के गर्त में डालने वालों ने धर्मशास्त्रों की रचना की और जनता को अलौकिक शक्ति के कोप से भयभीत करके खूब उलटे छुरे से मूंडा और धार्मिक क़ानूनों का जाल बिछाकर सदा के लिये इन्हें अपने पिंजरे का पक्षी बना कर रखना चाहा।

क़ानून का दूसरा स्रोत अग्नि और लोहे के बल से रक्तपात करके निर्बलों और शान्त हृदयों पर विजयी होने वाले लोग हैं। इन थोड़े से लोगों ने सर्वत्र अपना प्रभुत्व जमाया और उसी की रक्षा के लिए क़ानून बनाये। इसका फल यह हुआ कि आज हमारी सारी की सारी धार्मिक ऐतिहासिक, व्यवहारिक, न्यायसम्बन्धी और सामाजिक शिक्षा ऐसे भावों से भर दी गई है कि लोग समझने लगे हैं कि यदि मनुष्यों को क़ानून की बेड़ियों से मुक्त कर दिया जायगा तो वे फिर अपनी आदिम जंगली अवस्था में लौट कर पहुँच जायँगे। बिना क़ानून और सरकार के एक आदमी दूसरे को निगल जायगा। इसका कारण यही है कि हम पीलिया के रोगी की तरह सर्वत्र मनुष्य जाति में पशुता का ही साम्राज्य देखते हैं, मानो बुद्धि का उपादान और निमित्त कारण क़ानून और सरकार ही है।

अनेक ऐसे लोगों का भी जिन्हें हम विचारशील, विद्वान् और वस्तु स्थिति का ज्ञाता समझते हैं, ख्याल है कि जनता

विनष्ट हो जाय अगर उसके सिर पर कुछ चुने-चुने लोग पुरोहित और शासक (जज मजिस्ट्रेट) अपने पुलिस और जेल रूपी दोनों पर फैलाये चील की तरह न मंडराते रहें । वह जनपद से कहते हैं—"हम तुम्हारे रखवाले हैं; तुम सबको आपस में लड़कर मर जाने से बचाते हैं, तुम क़ानून की पूजा और प्रतिष्ठा करो और आज्ञापालन करना सीखो, फिर जेलखानों और फाँसी के स्तम्भों की ज़रूरत न रहेगी।"

सन् १८४८ में जब फ्रांस ने लुई फिलिप को अर्द्धचन्द्र देकर निकाला तो वह फ्रांसीसी जनता से कहने लगा—"मेरी प्रजा, तू मेरे विना नष्ट हो जायगी, इस बात का मुझे बड़ा दुःख है।' कैसी मजे की बात है, भेड़िये के न होने से भेड़ों का सर्वनाश हो जायगा। अङ्गरेज़ भी यही कहते हैं कि 'हम खुदा की खोई हुई भेड़ों की औलाद हैं; ईसा के नाम लेवा और धर्म तथा सभ्यता के अवतार हैं। हमारा कर्तव्य है कि अपने से दुर्बल जातियों पर सुन्दर शासन स्थापित करें और संसार को शांति और सभ्यता का पाठ पढ़ावें।"

हम लोग प्रत्यक्ष में धर्म की महत्ता और सुन्दर शासन का परिणाम क्या देखते हैं? इससे जनता के विकाश में बाधा पड़ती है; थोड़े से लोग सारी जनता की रोटी छीन कर आत्मसात् कर बैठते हैं; उन्नति की गति रुकती है; पण्डे पुजारी पुरोहित साधु हरामखोर बनकर मस्त फिरते हैं; मिहनती

किसान मजदूर रोटी के टुकड़ों को तरसाते फिरते हैं। एक तरफ नरक, जाति से बहिष्कार और सामाजिक दंड का भय दिखा कर पुरोहित पोसते हैं, दूसरी ओर जेल, देश निकाला और फाँसी का तख्ता हाथ में लिये हुये शासक हमारी ओर क्रूरता से देखते रहते हैं। अपनी नींद सोना अपनी भूख खाना जनता के लिये हराम हो रहा है। एक मौलाना साहब कौए की शागिर्दी स्वीकार करते हुये कहते हैं कि, हजरते इंसान ने कौए से अपने मुर्दों का दफन करना सीखा। इसका प्रमाण खास अल्लाह मियाँ की ज़बानी कुरान शरीफ है। दूसरी ओर क़ानून कहता है—"मेरे औचित्य अनौचित्य का विचार करोगे तो जेल जाओगे। मैं सरकार का संरक्षक हूँ। जेलर और गुप्तचर मैंने शिकारी कुत्तों की तरह इसीलिये छोड़ रखे हैं कि वह क़ानून की प्रतिष्ठा और सरकार की सुन्दरता को स्थिर रखें।"

एक पक्ष कहता है। कानून के आगे सर झुकाओ; दूसरा पक्ष कहता है क़ानून के विरुद्ध बगावत का झण्डा ऊँचा करो। हमें विचार करके देखना चाहिये कि किसकी बात ठीक है; किसका साथ दें, किस राह पर चलने में हमारा कल्याण है?

सच पूछिये तो क़ानून तुलनात्मक दृष्टि से नवीन वस्तु है! प्राचीन काल में क़ानून के गट्टर नहीं होते थे। आज भी भू-मण्डल पर सभी देशों में लिखित क़ानून का दौर-दौरा नहीं है। पुरोहित-मंडल-प्रधान शासन काल में भी धार्मिक और

सामाजिक क़ानूनों की लिपिबद्ध पोथियाँ न थीं। प्रथा, आचार, व्यवहार, स्वभाव, सुविधा और आवश्यकता के अनुसार समाज अपनी गति विधिका निश्चय करता था। लोग जैसे रोटी खाना, पानी पीना, खेती करना, कपड़ा बनाना परम्परा की रीत को देखकर सीख लेते थे, वैसे ही बचपन से अन्य रीतियों और रिवाज़ों को भी सीख लेते थे। प्रत्येक ग्राम या जनसमुदाय में अलग २ रीति, भाँति, आचार, व्यवहार के नियम होते थे। बहुत बातों में प्रांत भर के नियम एक से होते थे। इन्हीं नियमों के सहारे लोग प्रेम पूर्वक सुख के साथ रहते थे।

कुछ ग्रामों में जाकर हम आज भी देख सकते हैं कि बिना किसी क़ानून का खोज ख़बर के सब लोग अपना जीवन पुरानी रीति नीति के ही आधार पर सुख पूर्वक व्यतीत करते हैं। क़ानून की महामारी का ज़ोर सबसे अधिक बड़े-बड़े नगरों में देखा जाता है, उससे कम कस्बों में और उसके बाद उन ग्रामों में जो नगरों और कस्बों के पास ही बसे होते हैं। यह बात भी भारतवर्ष में सन् १८५७ के गदर के बाद ही ज़्यादा फैली है। हाँ धर्मान्धता जनित पुरोहिती खड्ग अवश्य जनता का रक्त आज से भी कहीं ज्यादा पिया करती थी। ठगी, सती, हिजड़ा समाज, काशी का आरा, दरगाहों, मन्दिरों, घाट बाट का लुटेरापन सभी बातें धर्म पर आधार रखती थीं। यह बातें न केवल भारत पर वरन् सभी देशों पर एक समान घटित

होती है। योरोप के इतिहास को देखें तो धर्म के नाम पर वहाँ जो लुच्चापन होता था वह एशिया से कहीं बढ़-चढ़ कर था। सार यह कि कुछ लोग ईश्वर या उसके प्रतिनिधि राजा के नाम पर क़ानून बनाकर प्रागऐतिहासिक काल से ही जनता की आँखों में धूल झोंक कर अपना उल्लू सीधा करते चले आये हैं। लेकिन इस रक्त-शोषक समुदाय की उत्पत्ति के पूर्व समस्त मनुष्य जाति बिना क़ानून के थी और सुखी तथा स्वतंत्र थी, इसमें संदेह नहीं। यह बात अब भी जंगली और सभ्य कही जानेवाली जातियों का अंतर देख कर जानी जा सकती है। हमारे पास ऐसे ऐतिहासिक प्रमाण हैं जिनको विद्वानों ने स्वीकार किया है और जो हमारे कथन की पुष्टि करते हैं।

आदिम अवस्था के लोगों की रीति नीति का विश्लेषण करके देखते हैं तो दो प्रकार की स्पष्ट रीतियाँ मिलती हैं। एक तो वह है जो समाज बद्ध होकर रहने की आवश्यकता और इच्छा से स्वाभाविक समझ द्वारा उत्पन्न होती हैं। इससे समाज की रक्षा और वंश की वृद्धि अभीष्ट होती है। बिना कुछ नियमित रीतियों के सामाजिक जीवन कठिन प्रतीत होता है। पर इन रीतियों का संस्थापक क़ानून नहीं होता। यह तो क़ानून के जन्म से बहुत पहिले की है। न धर्म (मज़हब) ही इनका संस्थापक होता है, क्योंकि इनके उत्पत्ति-काल में धर्मों का भी पता न था। ऐसी अनेक रीतियाँ समाज-बद्ध होकर

रहनेवाले पशुओं में भी देखी जाती हैं, क्योंकि उनका जीवन बिना समाज के कठिन हो जाता है। समाज में रहने के लिये कुछ सर्वमान्य नियम ज़रूर होते हैं जो समानता के द्योतक होते हैं। पर ये सब स्वाभाविक समझ (Instinct) से पैदा होते हैं। ये सब बातें प्राणी में आवश्यकता के अनुसार स्वयं प्रस्फुटित होकर धीरे-धीरे काल के परिवर्तन के अनुसार विकसित होती और वृद्धि प्राप्त करती रहती हैं। जङ्गली लोग एक दूसरे को खा नहीं जाते, अपने आहार और वस्त्रों के लिये खेती-बारी आदि करते हैं। क्या उनके पास कोई क़ानून का संग्रह लिखा हुआ रखा रहता है? इस जमाने में भी उनके पास कोई क़ानून न मिलेगा; जिसका जी चाहे आस्ट्रेलिया, अफरीका या एशिया के जंगलों में जाकर देख ले। भील, भरिया, संथाल आदि लोगों में क़ानूनी कोड़े का कहीं नाम निशान न मिलेगा।

[२]

हमें पर्यटकों के वृतान्तों से मालूम होता है कि बहुत से स्थानों के निवासी बिना कानून और बिना राजा या सरदार के बड़े चैन से रहते हैं। न एक दूसरे को जान से मार डालते हैं, न बलात्कार करते हैं, न आपस में छीना झपटी और मारपीट ही करते हैं, जैसा कि सभ्यता का अभिमान करने वाली जातियो में प्रायः देखने में आता है। उन लोगों में प्रेम है, भाई बन्दी है, स्वार्थों का ऐक्य और साम्य है।

यदि कभी कोई झगड़ा आपस में किसी बात पर हो भी गया तो वह तीसरे आदमी के पास जाकर पाँच मिनट में निपटारा करा लेते हैं। वकील वैरिस्टर रूपी जोंक और सरकारी अधिकारी रूपी खटमल उनका खून नहीं चूसते। उनमें भी अतिथि सत्कार; शिष्ट व्यवहार; रोगियों, और निर्बलों पर दया का भाव देखा जाता है। उनमें भी पारस्परिक सहायता; दया; आदान प्रदान; हिम्मत आदि गुण काफी मात्रा में पाये जाते हैं। वे भी दूसरों की रक्षा के लिये अपनी जान तक दे देते हैं। यही सामाजिक भाव है जो इन बेचारे सीधे-सादे जंगलियों में विना कानून के पोथों के, बिना वेद, पुराण, कुरान, बाइबिल आदि गाडियों धर्म पुस्तकों के अपना सीधा सच्चा काम करता रहा है और करता रहेगा।

हाँ एक बात ज़रूर है कि उनमें सभ्य बननेवाली जातियों की सी डकैती, चोरी, व्यभिचार, बलात्कार, अप्राकृतिक कामवासना, पक्षपात और लाखों प्रकार की बदमाशियाँ नहीं होतीं। उनकी दया सभ्य जातियों की सी बनावटी दया नहीं है, कि सड़क पर पड़े बीमार भिक्षुक को अस्पताल में रख कर दवा करें और आराम हो जाने पर फिर उसे भूखों मर कर बीमार हो जाने के लिए सड़क पर छोड़ दें। उनके यहाँ कोई भीख नहीं माँगता, कोई भूखों नहीं मरता। वे झूठी दया दिखा कर मनुष्य को घुल घुल कर मरने का उपाय नहीं करते। क्या जो लोग गरीबों के लिये औषधालय बनाते

हैं, वे चंगे होने के बाद उनके खाने पीने का भी प्रवन्ध करते हैं। आज लाखों स्त्री-पुरुष क्षुधा की ज्वाला से जल कर मरे जाते हैं क्या इनके बचाने का कोई उपाय किया जाता है ? अगणित लोगों को भोजनों की कमी से ही बीमारी होती है, इन्हें अन्न वस्त्र मिले तो ये बीमार क्यों हो ? कहा जा सकता है कि ये हरामखोर हैं, काम नहीं करना चाहते। पर यह इलजाम झूठा है, हजारों में १०,२० हरामखोर भी होंगे, वाकी लोगों को तो काम ही नहीं मिलता या काम भी मिलता है तो दिन भर पिसने पर भी महीने में पंद्रह बीस रुपये मिलते हैं जिससे आज कल पूरे कुटुम्ब का तो क्या एक आदमी का भी गुजारा मुशकिल से चल सकता है।

अब हम अपने विषय की ओर झुकते हैं। बात यह है कि जहाँ एक ओर सामाजिक जीवन की आवश्यकता और वंश की रक्षा की स्वाभाविक समझ से रिवाजों का स्वतःप्रादुर्भाव हुआ, वहाँ दूसरी ओर दूसरी इच्छा, वासनायें और कामनायें भी उत्पन्न हो उठी इन्हीं के कारण दूसरी आदतें और दूसरी रिवाजें बनीं। दूसरों पर अधिकार जमाने की इच्छा, अपने मन के अनुसार दूसरों को चलाने की कामना, दूसरों के श्रम के फल से स्वयं सुख पाने की वासना, हरामखोरो की प्रवृत्ति आदि बातें कुछ बलवानों और धोकेबाज बातूनों में पैदा हो उठीं। स्वार्थपरता बढी और इससे पुरोहिती और सिपाहीगीरी का जन्म हुआ। कुछ महापुरुषों ने भूत पिशाचों के

भय को और अनेक दूसरे अन्धविश्वासों को स्वयं मिथ्य समझ लिया, पर दूसरों में इन्हीं मूर्खताओं का बीज इस लिये बोया और पाला पोसा कि इनकी हाँडी विना हाथ पैर हिलाये गर्म होती रहे। बलवानों ने निर्बलों का अन्न वस्त्र लूट-लूट कर अपने पास रख लिया और चैन से खाने लगे। जो विचारे लूटे गये वे भूखे रह रह कर फिर कुछ पैदा करने का प्रयत्न करने लगे। इस तरह पुरोहितों, धर्मयाजकों का मण्डल और साथ साथ अधिकार प्राप्त शक्तिशाली लोगों का एक समुदाय स्थापित हो गया।

अन्धविश्वासी नवीनता से डरा करते हैं। अपनी वर्तमान दशा, रहन सहन में परिवर्तन करना इन्हें भयानक नजर आता है। यह सारी पुरानी बातों की प्रतिष्ठा विना विचारे केवल इस लिये करते हैं कि वह पुरानी हैं। जब कोई नवयुवक समाज के किसी अंग में कोई हेर फेर करने को उद्यत होता है तो बुड्ढे कह उठते हैं कि "यह तो हमारी परम्परा है, हमारे पूर्वज भी ऐसा ही करते रहे थे और सुखी रहते थे; तुम्हें भी इस रीति को बदलना न चाहिये। तुम प्रचलित प्रथामें गड़बड़ी मचाओगे तो भारी दुःख का शिकार होना पड़ेगा; आदि आदि।" इनलोगों को अज्ञात भविष्य से भय लगता है, ये लकीर के फकीर बने रहने में ही अपना कल्याण समझते हैं। जितना ज्यादा आदमी गुलामी परवशता और मुसीबत में फँसा होता है उतना ही अधिक वह नवीनता से

डरता है; उसकी आशा पर एक दम पानी फिर जाता है उसका हौसला पस्त हो जाता है। कितने ही अज्ञानी मूर्ख ग्रामीण तो मरना पसंद कर लेते हैं किन्तु किसी पुरानी रीति में परिवर्तन नहीं चाहते। हाल में ही कई जातियाँ स्वतंत्र होकर प्रजासत्तात्मक शासन कायम कर रही हैं, किन्तु उनमें बहुतेरे अब भी एकमुखी सत्ता [मोनार्की] का अभिनंदन करने को तैयार ही नहीं वरन् उसकी स्थापना के लिए सिरतोड़ कोशिशें कर रहे हैं। कहते हैं कि जब गुलामो की प्रथा योरोप से उठाई गई तो बहुतेरे गुलामों ने अपनी गुलामी की दशा को ही अच्छा समझ कर स्वतंत्रता का विरोध किया। आज भी हमारे अभागे भारत में ऐसे कितने ही पढ़े लिखे माडरेट और लिबरल नाम धारी लोग हैं जो गुलामो की जंजीर को एक दम तोड़ना नहीं चाहते। कितने ही महामहोपाध्याय, शास्त्री, पंडित ऐसे हैं जो समाज का सर्वनाश होते देखकर भी अपनी पुरानी नादानियों से एक तिल हटना भी पाप समझते हैं। कितने ही पुराने प्रमाणों की खोज में जीवन खपा देते हैं। कितने ही परिवर्तन के पक्षपाती सुधारक होते हुए भी केवल किसी न किसी बीते हुए काल की नकल करना ही पसंद करते हैं।

याद रहे कि अभ्यासमूलक नित्यक्रिया और पैरों से पिटी हुई पगडंडी को न छोड़ने की आदत और नवीन कल्याणकारी मार्ग पर चलने का साहस न होने का कारण अंधविश्वास,

जड़ता, कायरता, सुस्ती, और उद्यमहीनता ही है। ये ही हमारे दुखों का मूल हैं, इन्हीं के कारण हमको अत्याचार सहते रहना पड़ता है। धर्मशास्त्र और कानून, पुरोहित और सरकार हमारी ही इन कमज़ोरियों से लाभ उठाते आये हैं। प्रचलित रूढ़ियों से सरकार और पुरोहित मण्डल के सिवा और किसी को लाभ नहीं होता। इसी लिए ये दोनों मिल कर रूढ़ियों की दुहाई दिया करते हैं और जनता को उनका दास बनाये रखना चाहते हैं। एक कहता है कि विधवा विवाह हिन्दुओं के योग्य नहीं है तो दूसरा कहता है कि प्रजा अधिकार युक्त शासन भारत के लिए अनुपयुक्त है क्योंकि वह प्राचीन प्रथा के विरुद्ध है। पर इस प्रकार की रूढ़ियों को तोड़ देना ही जनता को सुखी बना सकता है हम में हिम्मत हो और पूरा उत्साह हो जिससे हम राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक नामवाली सभी रूढ़ियों को एक बार जड़ से उखाड़ फेंकें और उनकी जगह समयानुकूल, आवश्यकतानुसार समाजिक संगठन करें तो हमारे दुःख आज दूर हो सकते हैं। हमारे यहाँ की कितनी ही धार्मिक संस्थाओं और समाज सुधारक मंडलों का यह एक नियम होता है कि उनको राजनीति से कुछ सरोकार न होगा। इस प्रकार राजनीतिक संस्थाएँ कहती हैं कि धर्म में हस्तक्षेप करना हमारा काम नहीं। यह बड़ी नालायकी, कमज़ोरी और अदूरदर्शिता की बात है। राजनीति, नीति, धर्म, समाज जीवन के जुदा जुदा अंग नहीं हैं, सब ही समाज शास्त्र के अन्तर्गत आ जाते हैं। या

इस तरह कहना चाहिये कि सभी 'धर्म' शब्द की परिभाषा में समाविष्ट हैं। समाज-सुधार का अर्थ है समाज का समूल सुधार। जहाँ कहीं और जिस बात के सुधार की जरूरत हो सब की खबर एक साथ ही ली जाय।

आज कल मनुष्य जाति में केवल दो ही प्रतिद्वन्द्वी दल हैं—एक सबल; अधिकार प्राप्त; जबर्दस्त लोगों का और दूसरा निर्बल, जीवन अधिकार रहित; सीधे सादे लोगों का। कानून, सरकार, धर्म शास्त्र और पुरोहित केवल जबर्दस्तों के पृष्ठपोषक होते हैं दीनों और दुखियों के नहीं—यह हमारा नित्य प्रति का अनुभव है। कानून के व्यवस्थापकों ने—क्या सरकार क्या पुरहित मण्डल—एक पंथ में दो काम सिद्ध किये हैं। अपनी सुविधा और महत्ता स्थापित रखने के लिये बनाये हुए दण्ड-विधान (कानूनों के संग्रह) में उपर्युक्त दोनों मालाओं को एक में मिलाकर पिरोया है। अर्थात् समाजिक जीवन की रक्षा के लिए आवश्यक स्वयम्भूत रीतियों के साथ अपनी हकूमत कायम रखने वाली अपनी ही बनाई हुई आज्ञाओं और अनुशासनों को शामिल कर दिया है। पहिली बात के द्वारा कमजोरों में समता की दिखावट रहती है और दूसरी से अमीरों और गरीबों में विषमता पैदा की जाती है। अर्थात् शासक—मंडली साधारण सामाजिक नियमें में अपना लट्टू पुजवाने वाली आज्ञाएँ भी मिला देती है।

इसके लिए कानून के दो चार प्रत्यक्ष उदाहरणों पर विचार करना ज़रूरी है। कानून कहता है—"डाका डालना बुरा है"

साथ ही कहता है—"राजा कर की वसूली के लिए चाहे जितने सशस्त्र सिपाही किसी भी गाँव में भेज सकता है।" एक तरफ कहा जाता है—"किसी के साथ जबर्दस्ती मत करो" पर साथही—"राजा और उसके कर्मचारी बेगार ले सकते हैं"—यह नियम भी मौजूद है। धर्म शास्त्र कहते हैं—"अपनी कमाई पर संतोष करो"—पर साथ ही पुरोहित जी को जीवन भर सकुटुम्ब हराम में खाना देते रहने की व्यवस्था भी उसमें मौजूद है। कानून में कहा जाता है—"किसी मनुष्य की हत्या मत करो"—पर राजा को अधिकार है कि—"जो राजा के आत्मस्वत्व अधिकारों को कम करने के लिए, सरकारी अपराधों को उघाड़ने के लिये मुँह खोले, या कलम उठावे उसे बागी कह कर फाँसी पर चढ़ा दो।" "चोरी मत करो"—यह कानून का स्पष्ट आदेश है, लेकिन "जो सरकार को कर न दे उसका हाथ काट लो, जेल में डाल दो और उसे नाना प्रकार के दुःख दो।"

कहाँ तक गिनायें। कानूनों को जितना छानोगे उतना ही मैल कूड़ा करकट निकलता जायगा। जिन बंधनों को समाज ने अपना जीवन सुखी बनाने के लिये उत्पन्न किया था उन सबको उल्लंघन करने का अधिकार पुरोहित—मण्डली और सरकार को है। इन्हीं अधिकारों, अत्याचारों, को औचित्य देनेवाले नियमों का नाम कानून है।

जनता में समझ हो और साहस व उत्साह हो तो वह कानून और [illegible] कायदों का भंडाफोड़ करदे। निश्चय ही उनमें

इतनी गंदगी निकलेगी कि उन सब का सदा के लिये अंत कर देने में ही मनुष्य जाति का कल्याण नजर आयेगा।

(४)

जो लोग कानून और सरकार का समर्थन करते हैं, मानों इस बात की घोषणा करते हैं कि हम नालायक पशु हैं, और हम अवश्य ही वदमाशी-अमानुषी कृत्य करेंगे। इसलिए दो-चार आदमियों का डंडा लेकर अपने सिर पर खडाकर देना ज़रूरी है कि जब हम वदमाशी करें तो वे हमारी पीठ पर तड़ातड़ लगाना आरम्भ कर दें। फिर इन डंडा लगाने वालों को, यदि कभी उनकी इच्छा हो आये, तो इस बात का भी अधिकार हो जाता है कि अपनी मरजी से मनमानें डंडे लगायें और नाच नचायें। इस विचार के लोगों को, समझ में नहीं आता, कि किस श्रेणी में रखा जाय। पशु पक्षी भी नहीं चाहते कि वे अपने ऊपर हाकिम या जज या पुलिस या जेलर तैनात करें। जंगली मनुष्य जातियां भी उस तरह के काम की विरोधिनी नज़र आती हैं। हमारा तो खयाल है कि सिवा इन विचित्र जंतुओं के दूसरा कोई भी प्राणी सरकार और कानून का स्वगत करने को तैयार न होगा। ऐसे ही नादान लोगों की भूल से जब एक बार अधिकारियों की सृष्टि हो जाती है तो फिर सदा के लिए सरकार और कानून हमारे ऊपर अत्याचार करने का हक कायम कर लेते हैं। संसार के अनेक राज घरानों की सृष्टि इसी प्रकार हुई है। राजपूताने

का एक बड़ा भारी भूभाग जाटों का था। यह गोदारे जाट कहलाते थे। इन्होंने एक बार अपनी इच्छा से श्री० बीकोजी को अपना राजा मान लिया तो आज तक बीकानेर का राज्य स्थापित है और जाटों के अधिकार का कहीं नाम निशान भी नहीं है। (देखो टाड राजस्थान)।

पूंजी के जन्म का इतिहास हम देखते हैं तो जान पड़ता है कि यह भी युद्ध, लूट और दासता से ही पैदा हुई है। छल, दगा और लूट खसोट ही पूंजी की जननी है। पूंजी ने कैसे श्रमियों के रक्त से अपना भरण पोषण किया और कैसे धीरे धीरे सारी दुनिया को जीत लिया इसके लिए साम्यवादियों को लिना पूंजी के जन्म का इतिहास पढ़ना चाहिए। इसी प्रकार हमें कानून के जन्म का इतिहास भी जानने की ज़रूरत है।

लूट, खसोट, छीन झपट, दासता के फल की रक्षा का बीड़ा उठाने के गुन में कानून भी पूंजी का ही सगा भाई प्रतीत होता है। यह दोनों पारस्परिक सहायता से ही बढ़े और समुन्नत हुए। कानूनों का समर्थन पूंजी करती है और पूंजी (धन) की रक्षा कानून करता है। ऊँटों के विवाह में गधे गान करने गये और परस्पर एक दूसरे की सराहना करने लगे। गधों ने कहा वाह, आपका कैसा सुन्दर रूप है। ऊँटों ने उत्तर दिया, धन्य धन्य आपकी कैसी सुरीली आवाज़ है। बल-वान और धनवान मिलकर जनता का सर्वस्व अपहरण करने

हैं। यह सच है कि कभी-कभी बलवानों और धनवानों का संघर्ष भी होता है; कभी-कभी जनता अपने बल को पहचान लेती है तो वह इनकी मिली भगत में बाधा डालती है। पर अभी तक धन और कानून का ही हाथ ऊपर रहा है।

जनता को निद्रित रखने के लिये, उसे सदा के लिए अचेत बनाये रखने को धन और बल ने मिलकर पुरोहिती (मज़हब) का एक फंदा तैयार किया। तब धर्म शास्त्रों के नाम से पहिले पहल कानून बने। इन कानूनों के बनाने और व्यवहार में लाने वाले पुरोहितगण हुये। इन्होंने हमको अदृश्य स्वर्ग का प्रलो-भन देकर, ऐहिक सुख की सामग्री के प्रति घृणा उत्पन्न कराई और अपना और अपने सहायक धनवानों तथा बलवानों का काम बनाया। संसार के सारे धर्मों का इतिहास आद्योपान्त हमें इसी षड्यंत्र की सूचना दे रहा है।

इस तरह लट्ठ और छल के द्वारा बनाये हुए कानूनों का प्रभुत्व धीरे धीरे बढ़ा इनके अधिकार का वृत्त और बल जब ख़ूब बढ़ गया, तब इन्होंने कर वसूल करने में कड़ाई की, लोगों को दण्ड देने का विधान किया और लट्ठके बल अपना मतलब सिद्ध करने लगे। आज इन्हीं अत्याचार पूर्ण कानूनों का संग्रह धर्मशास्त्र के नाम से या राजदण्ड के नाम से हम अपने ऊपर चक्र की तरह सिर काटने को मँडराता देख रहे हैं। इस दुधारी तलवार (मज़हबी कायदे और राजकीय कानून) से काला बचता है न कबरा। लोहार, चमार, जुलाहे,

धुनिया, किसान; कारीगर आदि सभी श्रमजीवी इस कानून रूपी कोल्हू में रात दिन पिसते चले जाते हैं। एक ओर स्वर्ग की चाह में लोग अपना और अपने बाल बच्चों का पेट काटते हैं; और मक्के, मदीने, बद्रीनाथ, जगन्नाथ की यात्रा; साधु पंडे, पुरोहित, मुल्ला, मौलवी फ़क़ीर, दरवेश आदि की आवश्यकताओं की पूर्ति में पंडे पुजारियों के पेट भरने में, मंदिर और मसजिद के बनाने और उनकी रक्षा में सारा संचित धन लुटा देते हैं। किसान भूखा मरता है, पर अपनी आय का तीन चौथाई से अधिक राजा, जमींदार और साहूकार को चुप चाप सौंप देता है, क्योंकि यह कानून की आज्ञा है। बेचारा न दे तो जिन्दा नहीं रह सकता। एक तरफ़ क़ैद, कुर्की, नीलाम का डर है और दूसरी तरफ़ बदनामी और नरक आदि का भय मारे डालता है। इन चक्की के दो पाटों के बीच में धन को, असल में, कमानेवाली प्रजा रात दिन पिसी चली जाती है, पर उफ़ नहीं कर सकती। इन्हीं कानूनों की प्रतिष्ठा करना रात दिन हमें सिखलाया जाता है। कानून, शांति और नियम के नाम पर, जनता की रक्षा के बहाने में मानव जाति का रात दिन रक्त शोषण करता है। कर, जुर्माना और दक्षिणा का त्रिशूल हमें रात दिन छेदता ही रहता है। हराम खोर गंजेड़ी इस बात को साफ़ कह देते हैं—"आओ दमादम, कमावें मिहट उल्लू खांय हम।"

अधिकांश राजकीय कानून तो सम्पत्ति की रक्षा के लिये ही होते हैं। धनवानों की मोटरों की ' भौं भौं ' सुन कर निर्धन पैदल चलने वाले पशुओं की तरह इधर उधर भाग कर जान बचाते हैं। जो कुचले जाते हैं उनके बदले भी मोटर हांकने वाला गरीब ही दंड पाता है। मानों धनवानों के सिवा गरीबों के लिये सड़क हैं ही नहीं। इसी तरह मंदिरों, मसजिदों, गिरजों में भी अमीरों का खास खयाल रखा जाता है। क्योंकि स्वर्ग की कुंजी अर्थात् धन जिनके पास नहीं है वह स्वर्ग के अधिकारी कैसे हो सकते हैं। यह हैं कानून और यह लीला है धर्म शास्त्र और दंड संग्रह की।

अब हम कानूनों की आलोचना जरा अधिक गंभीरता से करना चाहते हैं। वाचक वृंद! लक्ष लक्ष कानून जो मनुष्य को नियमपूर्वक चलाने के लिए मौजूद हैं, इनको गहरी दृष्टि से वर्गीकरण पूर्वक देखें तो वे तीन प्रकार के पाये जायँगेः—

१—संपत्ति की रक्षा के लिये।

२—सरकार की रक्षा के लिये।

३—व्यक्तियों की रक्षा के लिये।

विचार कर देखते हैं तो तीनों ही निस्सार और जनता को पीडा पहुँचाने वाले यंत्र मात्र हैं। फिर भी हम इन पर जरा गहरी नजर डालते हैं।

साँपत्तिक रक्षा संबन्धी कानून का अर्थ यह है कि कोई व्यक्ति या समष्टि अपने श्रम का धन आप न खा सके। किसान,

मज़दूर और कारीगर जो उत्पन्न करें उसको लूट कर दूसरे लोगों को, जो निकम्मे, निठल्ले और हराम खोर हैं, पहुँचाया जाय। अगर लाला करोड़ी मल कानून की रू से किसी हवेली के मालिक हैं, तो इसका मतलब यह नहीं है कि उस मकान को लाला करोडी मल ने स्वयं अथवा अपने इष्ट मित्रों वा घरवालों की सहायता से बना कर तैयार किया है, जैसे कि जंगलों में ग्रामीण लोग अपने झोंपड़े तैयार करते हैं। लाला करोड़ीमल तो दूसरों से मकान बनवाते हैं और उनको उनके काम के पूरे दाम तक नहीं देते। इसका मूल्य तो सामाजिक है क्योंकि अकेले तो वे इसे बना नहीं सकते थे। इस तरह अनेकों के श्रम के फल को एक की वैयक्तिक सम्पति बना देना भूल है। वह वस्तु जिसे समाज ने मिल कर बनाई या पैदा की वह तो समाज की सम्पति हुई। इसी प्रकार सारे ही नगर, पुर, ग्राम विद्यालय, प्रयोग शालाएँ, रेल तार, सड़क जो भी हम देखते हैं सब को गरीब मनुष्यों ने मिल कर बनाया है, तब वह एक की सम्पति कैसे हो सकती है। इस लिए किसी मकान का स्वामी लाला करोड़ीमल को मानना अन्याय है। परन्तु कानून एक सार्वजनिक चीज़ का स्वामित्व एक को सौंप देता है। यही ढेरों कानूनी पुस्तकों का सारांश है। इसी कानून की रक्षा के लिये पुलिस, फौज, जज, मजिस्ट्रेट और अमलों के झुण्ड हमारी आँखों के सामने फिरते हैं।

सारे संसार के कानूनों में आधे से अधिक दीवानी कानून हैं जिनका काम है कि जनता की सम्पति छीन कर कुछ खास व्यक्तियों के हवाले कर दें। बहुत से फौजदारी कानून भी इसी अत्याचार की सहायता को बनाये गये हैं। मालिक और नौकर का भेद बना कर थोड़े से आदमियों के लिये मानव समाज को लूटा जाता है। जो मकान बनाते हैं उनको ऋतु की क्रूरता से रक्षा पाने के लिए चार इँच भी जगह नहीं मिलती और थोड़े से लोग कानून की हिमायत से बड़े बड़े महलों में रहते हैं।

अपने हाथ से श्रम करके माल पैदा करने वालों और चीज़ों के बनाने वालों के स्वत्वों की रक्षा के लिये कोई भी कानून नजर नहीं आते। अगर कानूनों और सरकारों ने जरा भी ईमानदारी और इंसाफ से काम लिया होता तो आज भूमण्डल पर तीन चौथाई से कहीं अधिक मानवजाति इस कष्ट में न होती जिसमें कि वह आज है। कानून और सरकार ने जो भी किया सब उलटा ही काम किया। हम देख रहे हैं कि जबरदस्त लोग हाथ में तलवार लेकर खुले खजाने निर्बल, शाँतिप्रिय श्रमजीवियों को लूट रहे हैं। कभी कोई श्रमिक दूसरे के श्रम के फल को छीनने के लिये जान बूझ कर झगड़ने नहीं जाता। जो कभी भ्रमवश कोई विवाद भी हुआ तो वहाँ ही तीसरा आदमी तय कर देता है। कानून की जरूरत पड़ती है न सरकार की आवश्यकता। इन श्रमिकों की कमाई को सम्पत्ति धारी लोग लूटते हैं और उनकी कमाई का सब से बड़ा भाग

इन्हीं की जेब में जाता है। आज कल कानून विवाद को निपटाने के बदले स्वतः विवाद का कारण बना हुआ है।

समस्त सम्पत्ति सम्बन्धी कानूनों के बड़े बड़े मोटे पोथे जिन से जजों की मेज शोभा पाती हैं, जिन्हें डाक्टर ऑफ ला, कौन्सिल, वैरिस्टर, वकील लोग लिये फिरते हैं; कुछ अर्थ नहीं रखते, सिवा इसके कि मानव जाति के श्रम के फल को छीन कर थोड़े से ठेकेदारों के हाथ में सौंप दें। इन कानूनों वकीलों, और जजों की तनिक भी आवश्यकता हमें नहीं है। इनके अन्त होने से ही मनुष्य जाति को सुख हो सकता है। जिस दिन मनुष्य जाति क़ानून और उनके भाष्यों को एकदम त्याग कर देगी उसके सुख का द्वार खुल जायगा, संसार में शांति फैलेगी और प्राकृतिक नियम एक सिरे से दूसरे सिरे तक अपना काम करने लगेंगे। जनता के लिये क़ानूनों का सदुपयोग यही है कि वह इन्हें प्रशान्त महासागर के पेट में सदा के लिये शान्ति पूर्वक बैठने का सौभाग्य प्रदान करे।

दूसरी प्रकार के क़ानून जो स्वयम् सरकार की रक्षा के लिये हैं, उनकी विचित्रता का तो कुछ कहना ही नहीं। सरकार क़ानून की रक्षा करती है और क़ानून सरकार की रक्षा करते हैं। पुलिस किसीको कितना भी और किसीको कितना भी और किसी तरह सतावे, उसे और उसकी निर्मात्री तथा भर्त्री सरकार को नेकनियत कहकर छोड़ दिया जाता है।

लाखों में एक बार कभी किसी सरकारो नौकर को दण्ड होता होगा, सो भी उसके व्यक्तिगत अपराध के लिये। किन्तु पुलिस के विरुद्ध किसी ने मुँह खोला कि क़ानून का सारा संग्रहालय और राज्य का सारा कोष इस बिचारे फरियादी को पीसने के लिये फौरन खोल दिया जाता है। सरकारी नौकर को, वह चाहे जज हो, सेना या पुलिस का अफसर हो, या और कोई कर्मचारी हो, उसके दोषो वा निर्दोषी होने का विचार किये विना ही, उसके बचाने की कोशिश करना क़ानून और सरकार का धर्म होता है। यही सरकार की रक्षा है। अगर कानून और सरकार की रक्षा के ढोंग के विषय में बाल की खाल निकाली जाय तो एक पोथा सहज ही में तैयार हो सकता है। दूसरों के रक्षण और भक्षण के लिये तो कानून की जरूरत पड़ती है किन्तु सरकार के संरक्षण और सरकार के विरुद्ध मुंह खोलने वालों के लिये किसी भी कानून और न्यायालय की जरूरत नहीं होती, सरकार के पास सरसे पैर तक अस्त्र शस्त्र से सुसज्जित भाड़े के अत्याचारी और घातक हरदम तैयार रहते हैं, इनको इशारा किया गया कि आदमी तुरन्त पकड़ कर स्वर्ग भेज दिया जाता है, या जेल में अस्थिपंजर बनाया जाता है, या देश बाहर निकाला जाता है, या नजर बन्द के नाम से किसी कोने में सड़ाया जाता है। इस तरह सरकार, कानून, सरकारी प्रतिष्ठा और कानूनों की महत्ता की रक्षा का दृश्य हम भूमण्डल के समस्त राष्ट्रों में देख रहे हैं। इहतिहास में भी इसका हाल पढ़ सकते

हैं। और कानूनी किताबों की व्याख्याओं और मन्तव्यों में भी पा सकते हैं।

तीसरी बात व्यक्तियों या शरीरों की रक्षा की है, इसी की बाबत हम थोड़े से शब्दों में कुछ लिखकर इस कानून के विभत्स चित्र पर पटाक्षेप करेंगे।

यह तीसरी जाति के कानून अपराधों और अपराधियों की खोज करते हैं, सुष्ठों को दुष्टों से बचाने का दम भरते हैं। यह कानून बड़े ही महत्त्व पूर्ण समझे जाते हैं, इन्हीं के बहाने लोग छले जाते हैं, इन्हीं से मोहित होकर कितने ही लोग सरकार और कानून के स्तव पाठ करते हैं, इन्हीं के आधार पर सम्पत्ति और सरकार की रक्षा के कानून भी पाले पोषे जाते हैं। इसमें बड़ा भारी कैतव, छल और रहस्य भरा पड़ा है। इसलिए पाठक इन्हीं कानूनों को विश्लेषण पूर्वक अत्यन्त ध्यान के साथ पढें और विचारें। हम भी इस श्रेणी के कानून का दिग्दर्शन यहाँ कराये देते हैं। कहा जाता है कि बिना इस श्रेणी के [illegible] के समाज क्षण भर भी नहीं चल सकता।

यह कानून मानव गोष्ठियों के उन लाभदायक [illegible] रीतियों और रिवाजों की भित्ति पर बने हैं, जिन पर [illegible] का सच्चा सुख, स्वातन्त्र्य, भ्रातृ भाव, प्रेम, दया स्थिर [illegible] थी और अब इन्हीं को अभिनव रीति से संस्कृत किया [illegible] है जिससे नवीन संस्कार कर्ताओं का लट्ठ जोर से घूमे और [illegible] रोक टोक पुजे।

इस श्रेणी के कानूनों के व्यापार को समझने में बड़े बड़े विद्वानों ने भी धोका खाया है। अत्यन्त गहरी जड़ पकड़े हुए पूर्व संस्कार और पक्षानुराग के कारण इन्होंने कानून के स्वाभाविक और कल्पित धर्म्मों में भेद करने का विचार ही नहीं किया। कोई कोई विद्वान् एक ओर तो वैयक्तिक सम्पत्ति के दोष को विस्पष्ट शब्दों में स्वीकार करते हैं, लेकिन दूसरी ओर जब केन्द्रीभूत धन और कारखानों को छोड़ कर धरती का प्रश्न उठाते हैं तो अपने पूर्व तर्क को भूल जाते हैं। अपने प्राकृत विज्ञान में जिस बात को मुक्त कण्ठ से वर्णन करते हैं उसी को दूसरे प्रकरण में भुला देते हैं। स्पेंसर ने मानव जाति प्रतिपक्ष सरकार 'the man Versus the state' में जो प्रोग्राम पेश किया उसी को वह 'सरकार' के रक्षण करने वाले अधिकार और व्यापार की व्याख्या करते हुए जीभ तले दाब गया।

स्पेंसर के सिवा और कई पाश्चात्य दार्शनिक ऐसे पाये जाते हैं जिन्होंने आदिम मनुष्य जाति को बिना किसी पुष्ट प्रमाण के पशुओं से भी बुरा चित्रित किया है। कहा है कि यह लोग जंगलों में आहार और स्त्रियों के छीनने के लिए परस्पर लड़ते रहते थे। इसी से शान्ति स्थापना के निमित्त तीसरी दया मयी शक्ति शालिका बनकर इनके ऊपर बैठी। मैं तो कहता हूँ, भगवन्! आदिम मनुष्यों की बाबत तो यह कहना भूल है, क्योंकि उनके नमूने आज भी भू-मण्डल के

अनेक जङ्गलों में पाये जाते हैं, कहीं ऐसा नहीं देखा जाता। एडवर्ड कार्पेण्टर एक अनुभवी लेखक ने 'सभ्यता का रोग, उसका कारण और इलाज' नाम की पुस्तक में कहा है कि 'जब हम आस्ट्रेलिया के जंगली जातियों को देखते हैं तो प्रश्न उठता है कि यह लोग विकाश की सीढ़ी में सभ्यता के डंडे से ऊपर चढ़ गये हैं या उसके नीचे हैं। यदि अभी नीचे हैं और सभ्यता की ओर बढ़कर आने वाले हैं तो मुझे इनकी दशा पर अनुकम्पा होती है क्योंकि यह सभ्य कहलाने वालों से कहीं अधिक ईमानदार, सच्चे, निष्कपट और सुखी हैं।'

पर हो क्या, हक्सले ने अपने जीवन युद्ध (Struggle for existence) शीर्षक निबन्ध में होबीस (Hobbes) की तरह आदिम मनुष्यों को बुरी तरह से चित्रित किया है ऐसे ऐसे विद्वानों को यह न सूझा कि समाज मनुष्य ने बनाई नहीं, यह नैसर्गिक है पशुओं में भी समाज का भाव मौजूद है। लेकिन पूर्व संस्कार के प्रवाह में बड़े बड़े विद्वान भी कभी कभी बह जाते हैं।

अब हम देख रहे हैं कि दौलत और औरत, धरा और धाम छीनने के लिए सभ्यता अभिमानिनी जातियाँ वही काम कर रही हैं जिनके करने का अपराध वह आदिम मनुष्य जातियों पर लगाते हैं। धन कमाने के लिये ईसाई चीन को लट्ठ के बल से

अफीमची बनाते रहे हैं, मुसलमान धन और स्त्रियों के लूटने को दूसरे देशों पर चढ़ाई करते हैं, आज भी कितने ही देश धन लोलुप सभ्य कहलाने वाली पाप परायण जातियों के अंगूठे तले दबे हुए दुख भोग रहे हैं। आदिम मानव गोष्ठियों में यह बात न थी।

आदिम गोष्ठियों के स्वाभाविक स्वयम्भूत क़ानूनों को आज कल के सभ्यता के दीवाने अर्थलोलुपों और वासना के दासों ने बिगाड़ा है और ऐसे ढांचे में ढाल दिया है कि जिससे संसार दुखी हो रहा है। आज कल जितने इस तीसरी श्रेणी के अपराध होते हैं उनमें से १०० में ७० दूसरों की दौलत छीनने के अभिप्राय से होते हैं। यदि वैयक्तिक सम्पत्ति की प्रथा उठ जाय तो यह अपराध स्वतः निर्मूल हो जायँ, कारण के मिट जाने से कार्य स्वतः मिट जाता है।

कुछ अपराध स्त्रियों के लगाव से होते हैं। इसका कारण भी धन-पात्रों की धन के ज़ोर से अनुचित काम वासना सन्तृप्ति ही होती है। कुछ निर्धन भी इन्हीं बिगड़े धनवानों का अनुकरण करने लगते हैं। संसार में भोग लोलुपता बढ़ाने का कारण सम्पत्ति का व्यक्तियों के पास इकट्ठा होना है। वैयक्तिक सम्पत्तिकी प्रथा के उठने के साथ यह बातें भी नष्ट हो जायँगी। विशुद्ध प्रेम व्यवहार नर और नारियों में अपना काम करेगा।

कहा जाता है कि समाज में कुछ ऐसे दुरात्मा . .
रहेंगे जो ज़रा-ज़रा सी बात पर दूसरे मनुष्य का प्राण ले
को तैयार होंगे; इसलिए ऐसे लोगों को दण्ड देने का .
ज़रूर होना चाहिये। लेकिन हम तो देखते हैं कि चोरों .
जेल में जाने से चोरी बन्द नहीं होती, हत्यारों को प्राण दण्ड
देने से हत्यारों की संख्या हर वर्ष घटती तो नहीं वरन बढ़ती
नज़र आती है।

चोरी, डकैती, हत्या, झूठ, छल, फरेब अन्न वस्त्र की कमी
और आवश्यक वस्तुओं के अप्राप्ति के कारण होते हैं। जिनको
खाने पीने को न मिलेगा वह अवश्य ही पड़ोसी की रोटियों में
हिस्सा लेने का प्रयत्न करेंगे। यह स्वाभाविक बात है। जेलों
में जाकर देखें और छान बीन करें तो मालूम होगा कि अन्न
वस्त्र का अभाव ही सारे अपराधों की जड़ है। जिस साल
देश में दुर्भिक्ष पड़ता है जेलखाने खूब भर जाते हैं। जब फसल
अच्छी होती है, चीज़ों के दाम ठीक-ठिकाने रहते हैं तो अपराध
भी कम होते हैं, लोग सरल जीवन व्यतीत करने में ही प्रसन्न
रहते हैं।

जिस दिन फाँसी के थम्भे उखाड़कर भाड़ में झोंक दिये
जायँगे, जेलखानों का नाम निशान मिटा दिया जायगा, जजों,
पुलिस वालों, अमलों, चारों, इमचारों को नौकरी से पृथक्
करके कानून के पोथों को नदी में प्रवाह कर दिया जायगा और

वैयक्तिक सम्पत्ति की प्रथा को उठकर शत प्रतिशत नर-नारियों को आहार और वस्त्र मिलने लगेगा। सारी कठिनाइयाँ दूर हो जायंगी। अपराधों के नाम तक न सुने जायँगे, क़ानूनों का नाम कहानियों में ही पढ़े जाया करेंगे। क़ानून और सरकार सारे पापों की जड़ है।

यह लेख माला बम्बई के भद्र साप्ताहिक प्रणवीर में जनवरी १९२९ में छपी थी।

तीसरी तरंग

(स्फुट)

"न्याय, नीति, समता, और स्वातंत्र्य"
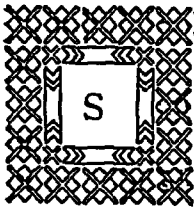
Speak What thou Knowest without fear and hatred. (Proudhon)

अर्थात्, घृणा और भय छोड़ कर तू जो—जानता है, सत्य सत्य कह दे।

आज वह समय है कि मनुष्य-बुद्धि केवल शुष्क इति-वृत्त, तथ्य और प्रमाण के ही सामने सिर झुकाती है।

कवि-कल्पना मनोरंजन चाहे करे, पर विश्वास का स्थान नहीं पा सकती। विज्ञान, मनुष्य-धर्म और प्राकृत नियम कहते हैं कि उनके आगे कला-कौशल का अतिरंजन और कविता की असत्य कल्पना को उच्च स्थान नहीं मिल सकता। विज्ञान में मनुष्य और इतर प्रकृति दोनों ही शामिल हैं। सच्चाई के प्रकट होने का स्थान हर एक मनुष्य का हृदय है। इसमें रंग, रूप, देश, धर्म और जाति का कोई विवेक नहीं। हम अनन्त के मध्य में हैं, हमसे पहिले भी अनन्त और पीछे भी अनन्त का स्थान है। इस अनन्त में किसी क्षणिक प्राणी की क्या हस्ती है? इसलिये मेरे छोटेपन को भूल जाओ। देखो, मैं जो कहता हूँ, वह कहाँ

तक सत्य है? देखो, स्वत्व और दायित्व क्या है? न्याय और नीति किसे कहते हैं? स्वातंत्र्य तथा स्वाधीनता का रूप कैसा है?

विद्वान लोग कहते हैं कि मनुष्य की नीतिमत्ता ही उसकी और पशुओं की बुद्धि के बीच की पृथक् करनेवाली रेखा है। मनुष्य में नीति मत्ता न होती, तो उसमें और पशु में अन्तर ही न होता। हमारा स्वाभाविक नैतिक ज्ञान ही न्याय की उत्पत्ति का प्रधान कारण है। कोई कोई कहते हैं कि दोनों एक ही चीज़ हैं। एक तीसरा विद्वान पशु-बुद्धि-और मनुष्य-बुद्धि का भेद यों करता है:—

'पशु-बुद्धि, स्वभाव और स्वार्थ पर आश्रित होती है; मनुष्य-बुद्धि अपने शेष जगत के साथ के सम्बन्ध का भी विचार करती है। यहीं से नीति का आविर्भाव होता है। यहाँ प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि मनुष्य-बुद्धि और पशु-बुद्धि का अन्तर किस तरह का है? दोनों में तारतम्य-भेद है, या जात्यन्तर? सीधे शब्दों में, दोनों पृथक् पृथक् हैं या केवल गुणों की ही कमी वेशी है? इस प्रश्न का उत्तर हमें लोक और वेद के ज्ञाता यही देते आते हैं कि दोनों पृथक् पदार्थ हैं। मनुष्य की महत्ता का मुख्य कारण उसकी अन्तरात्मा है, जो उसे ही मिली है। इसीसे वह न्याय और अन्याय, उचित, और अनुचित, भले और बुरे की विवेचना कर सकता है। मनुष्य बुद्धि

सत्या सत्य को निर्णायक होती है; परन्तु पशु को नहीं। यह विवेक अन्तरात्म का परिचायक लक्षण है। यह मनुष्य का प्रतिष्ठित अधिकार है। मनुष्य ही अपनी ऐहिक इच्छा को रोक सकता है, भले बुरे का विचार कर सकता है, और अपनी स्वतंत्रता और न्याय परायणता के कारण ईश्वर-स्वरूप बन जाता है।' ये सब बातें सुनने में तो बहुत अच्छी लगती हैं, लेकिन जब विश्लेषण करके देखते हैं, तो थोथी ही नज़र आती हैं।

अरस्तू कहता है—"मनुष्य सज्ञान सामाजिक (पशु) प्राणी है।" एक दूसरे विद्वान्—"बोनेल्ड" की परिभाषा यह है:—

"इन्द्रियों और अंगों से सेवित बुद्धि ही मनुष्य है।" इस तरह अनेकों परिभाषाएँ इस विचित्र पशु (मनुष्य) की की गई हैं जिनमें सबसे अच्छी परिभाषा अरस्तू की है। इसलिये मैं उसी को मान कर विचार करता हूं। मनुष्य समाज में रहने वाला पशु है। जब सोचते हैं कि समाज क्या है, तो मालूम होता है कि "समाज" समस्त सम्बन्धों का योग है, इन संबन्धों की श्रृङ्खला या पद्धत्ति का आधार किसी न किसी प्रकार की शर्तें हैं। ये ही शर्तें मनुष्य समाज के क़ानून हैं। तब ये शर्तें अर्थात् क़ानून क्या हैं? एक दूसरे के पारस्परिक विचार से स्वत्व क्या है? और न्याय किसे कहते हैं?

अनेक दार्शनिकों के इस तरह कहने का कोई अर्थ नहीं कि "यह ईश्वर प्रदत्त समझ है" अविनाशी ईश्वरीय या स्वर्गीय आवाज़ है, प्रकृति-प्रदत्त पथ-प्रदर्शक, मनुष्य के संसार में आने पर उसके लिए ईश्वर का प्रकट किया हुआ एक प्रकाश है। यह एक कानून है, जो हमारे हृदय-पटल पर अंकित किया गया है, आन्तरिक विवेक-जनित भाव और बुद्धि की अनुज्ञा है" इत्यादि। देखने में ये बातें चाहे कितनी सच्ची और सुन्दर हों लेकिन इनका अर्थ कुछ नहीं। यह केवल अस्पष्ट शब्दाडम्बर मात्र हैं।

नीति के विषय में भी दर्शन कार लिखते हैं "यह स्वर्ग की लक्ष्मी है। संसार में आनेवाले हर एक आदमी को यह देदीप्यमान कर देती है। इसी से मनुष्य और पशु का विवेक होता है।"

किन्तु इस उपदेश से नीति के वास्तकि रूप का पता नहीं चलता। अरस्तू कहता है,—न्याय जनता का हित है। यह भी शब्दों का उलट फेर ही है। यह कहना कि कानून बनाने वाले मण्डल का या व्यावस्थापिका समिति का उद्देश्य जनता की भलाई होनी चाहिये, वैसी ही बात है जैसी कि वैद्य का उद्देश्य बीमारों को चंगा करना या पुलिस का काम जनता की रक्षा करना।

अब ज़रा दूसरी तरफ़ से विचार करें। स्वत्त्व उन सिद्धान्तों का योग है जिन से मनुष्य समाज चलाया जाता है।

था चलता है। इन्हीं की प्रतिष्ठा करना और इन्हीं के अनुसार चलना मानवीय न्याय है। न्याय करना सामाजिक सहज बुद्धि या पशु-बुद्धि की अनुज्ञा का मानना ही है। यदि हम मनुष्यों के आचरण को देखें कि एक दूसरे के साथ जुदी जुदी हालतों में वह कैसा होता है तो हमें समाज की उपस्थिति और अनुपस्थित का अन्तर मालूम हो जायगा। और जिस नतीजे पर पहुँचेंगे उससे हम फिर तर्क से कानून का पता लगावेंगे।

जो माता बच्चे की रक्षा करती है वह समाज की समझ में अच्छी माता है, जो ऐसा नहीं करती वह प्रकृति के विरुद्ध आचरण करने वाली दुष्टा है। जो बीमार की सेवा करता है, डूबते को बचाता है, सबल से निर्बल की रक्षा करता है, वह भला आदमी है, भाई और संगी है। जो सेवा नहीं करता निर्दय है, जो किसी के प्राण हरण का कारण होता है वह हत्यारा है। इसी तरह दानी और चोर, कमाऊ और हरामखार आदि की कल्पना होती है।

पर इस प्रकार के जितने काम देखे जाते हैं सभी में प्रत्यक्ष दीख पड़ता है कि मनुष्य अपने सजाति या सहचर की ओर किसी आन्तरिक आकर्षण शक्ति से ही खिंचता है। मनुष्य में स्वभाव से ही एक अज्ञात समवेदना पैदा होती है, जैसे प्यार, कृतज्ञता, सहानुभूति आदि। यदि मनुष्य चाहे कि वह ऐसा न

करे तो उसे अपने मन से लड़ना पड़ता है ; क्योंकि स्वभाव या प्रकृति के विरुद्ध चलने में उसे कष्ट प्रतीत होता है। यह सब बातें नैसर्गिक समझ से होती हैं। इनका कारण ज्ञान (Intelligence) नहीं है।

इस लिये ऊपर कही हुई बातों से मनुष्य और पशु का कोई निश्चयात्मक अन्तर स्पष्ट नहीं होता। पशु भी प्यार करते हैं। गाय और बन्दरिया अपने बच्चों को जब तक वे निर्बल रहते हैं प्राण से अधिक प्यार करती है। बहुधा माताएँ अपनी जान को जोखिम में डाल कर अपने बच्चों को खतरे से बचाती हैं। स्त्रियों को अपने बच्चे पर अत्याचार करते चाहे देखा भी हो पर पशुओं को ऐसा करते नहीं देखा गया। ऐसे पशुओं की समता उन वीरों से ही हो सकती है जिन्होंने प्राणों की बाज़ी लगाकर अपने देश को स्वतंत्र करने के लिये साहस दिखलाया हो। हरिणों में भी सामाजिक संगठन होता है। जब इनका झुंड चरता होता है तब उनमें से एक सर ऊँचा किये पहरा देता है—खतरे के समय सब को भागने के लिये सावधान कर देता है। अनेक शिकारी जानवर मिल कर शिकार करते हैं, एक दूसरे को बुलाते हैं, अहेर का पता बतलाते हैं, खतरे में एक दूसरे का साथ देते हैं। एक बन्दर को आप मारें या उसके बच्चे को छीनलें फिर देखिये, सारे बन्दर किस तरह मिलकर आपका सामना करते हैं। जब कोई हाथी गढ़े में फँस जाता है तो दूसरा उसकी सहायता करके निकाल

ने को चेष्टा करता है। गायें जंगलों में अपने बच्चों को बीच में सुरक्षित रखकर चरती हैं, इस लिए कि उनके बच्चों को भेड़िया न लेजाने पावे। जो कदाचित भेड़िया पकड़ ही ले तो अपने सींग हिलाकर गायें बड़ी जोर से भेड़िये पर आक्रमण करतीं और बच्चे को छुड़ा लेती हैं। घोड़े, गधे, शूकर सभी अपने सहचरों और सजातियों की मदद करते हैं। पशुओं में प्रेम सम्बन्ध भी बहुत प्रगाढ़ होता है। मनुष्यों का विवाह उनके सामने कोई हकीकत नहीं रखता। फिर भी पशु लड़ाई झगड़ों से बरी नहीं होते। हम यह बात मनुष्यों में भी देखते हैं। वे दया, न्याय, नीति, दान, सहायता, सहानुभूति, सम्वेदना आदि सब कुछ रखते हुए भी लड़ाई झगड़ों, लूट खसोट, छीना-झपटी में पशुओं से अधिक आगे बढ़ जाते हैं। यहाँ तक कि कुत्तों को भी अपने स्वभाव से लज्जित कर देते हैं, इसीसे मानना पड़ता है कि इन सब बातों से पशु और मनुष्य का अन्तर विस्पष्ट नहीं होता।

सामाजिक बुद्धि मनुष्य में चाहे पशु से कुछ अधिक हो, यह तारतम्य दूसरी बात है, परन्तु प्रकृति दोनों की एक है। मनुष्य संग साथ की ज्यादः परवा करता है, पशु एकाकी रह कर भी समय व्यतीत कर लेते हैं। मनुष्य में सामाजिक आवश्यकताएँ अधिक अनिवार्य्य और पेचीदः होती हैं; वैसे ही उनके साधन भी होते हैं; पशुओं की जरूरतें कम, ढीली और निर्बल होती हैं। इस लिए एक प्रकार से मनुष्यों से पशुओं को

अच्छा भी माना जा सकता है। पशुओं में वलात् स्त्री संभोग, समय से पहले गर्भाधान चेष्टा और पुरुषों का पुरुषों के साथ अस्वाभाविक व्यभिचार आदि अनाचार नहीं देखे जाते। लेकिन मनुष्य जाति के पशु में यह सारी वातें मौजूद हैं। वात यह है कि मनुष्य अपनी जाति और व्यक्ति दोनों की खातिर जीता है और पशु केवल अपनी जाति स्थिर रखने के के लिए। अभी तक जो विचार हुआ, उससे मनुष्य की पशुओं से श्रेष्टता प्रतिपादित नहीं हो सकी।

यदि हम में दुराचार लंपटता, लालच, स्वार्थ परता, अत्याचार बदले का भाव आदि दुर्गुणों का समावेश नैसर्गिक है तो हम में दया करने, खैरात देने, न्याय और प्रेम करने के भाव भी नैसर्गिक हैं। इससे तो हम किसी भी विशेषता या श्रेष्टता की ओर पैर नहीं रखते। यहाँ तक तो हमें पशु बुद्धि की अन्ध गति, दो पैर दो हाथ वाले पशु (मनुष्य) और चार पैर या चार हाथ वाले पशुओं में समान नजर आती है। लेकिन अन्तर तो जरूर है। फिर वह क्या है?

इसका एक सरल सीधा दार्शनिक उत्तर यह है कि "मनुष्य तो अपनी सामाजिक योग्ता समझता है। वह जानता रहता है कि मुझ में सामाजिक योग्यता है, लेकिन जानवर इस गुण को रखते हुए भी यह नहीं समझते कि हम में यह वात है। हम अपनी सामाजिक बुद्धि से किये हुये कामों की अलोचना,

विचार एवं तर्क करते हैं, पर पशु ऐसा नहीं करते।" यह बात हम पशु मनोविज्ञान के मनन करने से जान सकते हैं।

कुछ और आगे बढ़ें तो जान पड़ता है कि हमारे तर्क और विचार शक्ति के कारण यह सब है, जो हम में है और पशुओं में नहीं है। इसी से हमें खयाल होता है कि कौनसा काम हमारे और दूसरों के लिए हानिकर है। बहुत से काम पहले हमारे लिए हानिकर होते हैं फिर दूसरों के लिए। बहुत से काम पहले दूसरों को हानि पहुँचाते हैं फिर हमें। इसी लिए हम उस सामाजिक बुद्धि का जो हमें क्रम से चलाती है विरोध नहीं करते। इसीका नाम न्याय है। यह हमारी तर्क शक्ति है जो हमें बतलाती है कि स्वार्थी, डाकू और हत्यारा या यों कहें कि समाज-वंचक पापिष्ट है और जब मनुष्य जान बूझ कर दोष करता है तो वह प्रकृति का शत्रु और समाज के समक्ष अक्षम्य अपराधी है। वह दूसरों के लिए भी हानिकर है और अपने लिए भी। अस्तु, हमारे सामाजिक भाव—चाहे वह धर्म्म के नाम पर हों, चाहे कानून अथवा नीतिमत्ता के नाम पर—और हमारी तर्क शक्ति हमें इस बात के लिए साव-धान करती है कि हम लोग अपने किए की जिम्मेदारी अपने ऊपर लें इसी सिद्धान्त पर बदला, पश्चात्ताप, प्रायश्चित्त और दण्डविधान बने हैं। इसी को दण्ड देनेवाला न्याय माना जाता है।

इस तरह पर हम अपने सहचरों के साथ के संबंधों पर तर्क-वितर्क करते हैं। हम अपने खाने, पीने, उठने, बैठने, और व्याह-शादी की छोटी-छोटी बातों पर भी विचार करते हैं। ऐसी कोई भी बात नहीं, जहाँ हमारी तर्क-शीलता कतर-ब्योंत टाँग न अड़ाती हो। पर इस तर्क और विचार से वस्तु स्थिति में कोई अन्तर नहीं आता। हमारे विचार करने से किसी वस्तु के परिचायक लक्षणों का न तो रूपान्तर हो सकता है, और न प्रकृति अपना कोई नियम ही बदल सकती हैं। भले ही आप विचार करें कि सूर्य्य क्यों इतना बड़ा है, कैसे उगता है, पृथ्वी कैसी है, पानी बरसने के क्या कारण हैं; पर क्या आप के सोचने और विचारने का कोई प्रभाव प्रकृति के किसी नियम पर पड़ सकता है?

मनुष्य प्रकृति का अंग है, प्राकृत है। उसमें कोई बात ऐसी नहीं हो सकती जो पशुओं की नैसर्गिक प्रकृति से सर्वथा भिन्न हो। यदि कुछ बातों में कुछ अन्तर देखा जाता है तो तारतम्य मात्र है, न कि जात्यन्तर भेद, जैसा कि ऊपर कहा गया है। हमारी नीति मत्ता भी मनुष्य और पशु में ऐसा कोई भेद नहीं स्थापित कर सकती, जो हमारी उक्त प्रतिज्ञा को तोड़ सके।

सामाजिकता के भाव को कुछ उच्चतर आदर्श से देखने वाले कहते हैं—जैसा कि पहले संकेत किया जा चुका है—कि

सामाजिकता का दूसरा दर्जा न्याय है। न्याय की परिभाषा एक प्राचीन लैटिन विद्वान ने यों की है :—

" justum aequale est, injustum inaequale" अर्थात् समता न्याय है, विषमता अन्याय।

इसी को प्राउढन दूसरे शब्दों में यों कहता है :—

" Recognition of equality between another's personality and our own, is justice."

इसने इस बात को सिद्ध किया है कि प्रकृति जनित जो गुण पशु में हैं, वे ही मनुष्य में भरे, क्योंकि दोनों ही पशु हैं। हाँ, पशु में बालकों की तरह केवल समझ (Instinct) होती है और मनुष्य में ज्ञान (Intelligence)। इसलिये यदि न्याय के भाव हममें हैं तो पशुओं में भी हैं। अन्तर इतना है कि हम विचार बाँध सकते हैं, कल्पना कर सकते हैं, और पशु नहीं। किन्तु इतने अन्तर के कारण प्रकृति नहीं बदल सकती। हममें और पशुओं में और भी जो समाज संबंधी बड़े अन्तर हैं, उन्हें आगे चलकर स्पष्ट करने की कोशिश की जायगी। यहाँ पहले हमें यह जान लेना होगा कि समाज, न्याय और समता समानार्थक शब्द हैं। शाश्वत न्याय या प्राकृत न्याय और सामाजिक न्याय में अन्तर है। पहला अटल, मूल और मनुष्य जाति का पथ-प्रदर्शक है, दूसरा नकली और समाज पर आधार रखनेवाला। एक का आधार निसर्ग है, दूसरे का समाज या सामाजिक क़ानून का वर्ताव।

यदि कोई आदमी पानी में बह गया हो, मरणासन्न हो और दूसरा आदमी जङ्गल में नदी के किनारे-किनारे जाते हुए उसे देखे, तो उसका यह कर्तव्य होगा कि किसी न किसी तरह बचावे। यदि वह डूबते हुए को बचा लेने का प्रयत्न नहीं करता, तो उसे समाज दोषी ठहरावेगा। लोग उसे निर्दय और हत्यारा तक कहेंगे। संभव है, क़ानून जान-बूझ कर इस निर्दयता पूर्ण असावधानी करने के कारण दण्ड का भी विधान करे। मान लीजिये कि उक्त यात्री को नीति मत्ता ने डूबते हुए पुरुष के बचाने का ध्यान दिलाया और उसने उसे बचा लिया और थोड़ी देर में यत्न करने से वह ठीक भी हो गया। अब उसे खाने की ज़रूरत है तो क्या मुसाफिर के पास जो खाना है उसमें से भी उस उद्धृत पुरुष को हिस्सा मिलेगा? यदि पानी में डूबते हुए मनुष्य की जान बचाना कर्तव्य है तो भूके को भूक से मरने से बचाना अपने खाने में हिस्सेदार बनाना भी कर्तव्य है। संसार के सभी पदार्थों पर तो मनुष्य मात्र का समान अधिकार है। जो समाज मनुष्य के जीते रहने के अधिकार की इस तरह पर रक्षा करता है कि आग में जल कर पानी में डूब कर मरने नहीं देता, वही समाज यदि भूख से मनुष्यों को मर जाने देता है, तो समाज के लक्षणों में व्याघात होता है। पर हम देखते हैं कि कोई सड़कों पर रात बिताने वालों को अपने घर का हिस्सेदार नहीं बनाता, बिना अन्न-वस्त्र के

दुख पाने वाले को अपने अन्न और वस्त्र में हिस्सा नहीं देता। क्यों? समाज के प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य अबाधित, अप्रतिबन्धित और असीमाबद्ध होता है।

पर नहीं मनुष्य अपने भोग्य कदार्थ दूसरे को नहीं देना चाहता। उसे डर है कि कभी आपत्ति का समय आ जायगा, तो मैं क्या करूँगा? इसलिए अपने लिए वह अलग ही पदार्थों का संचय करता है। इसी कारण मनुष्य लूट-खसोट छल-फरेब चोरी डकैती करने लग जाते हैं। वह कभी कभी हत्या भी कर डालते हैं। पशुगण में कर्तव्य का खयाल नहीं होता, क्योंकि उनकी बुद्धि में पूर्वापर के विचार को जगह नहीं होती। उसकी समझ मनुष्य के ज्ञान के समान नहीं। उन्हें अपने कामों से भले-बुरे नतीजे को जानने योग्य समझ नहीं होती। आश्चर्य्य तो यह है कि ज्ञान भाण्डार मनुष्य, पशुओं में सर्व श्रेष्ट, संग-प्रिय, समाज-प्रेमी जन्तु का ज्ञान भी उसे कानून उल्लंघन करने का रास्ता बतलावे। यदि मनुष्य का ज्ञान स्वार्थ परता ही के लिए है, तो अच्छा हो कि ऐसा ज्ञान, ऐसी बुद्धि मनुष्य में से सदा के लिए जाती रहे। ऐसी बुद्धि एवं ज्ञान वाले मनुष्यों से पशु बहुत अच्छे हैं, जो दूसरे का भला नहीं तो बुरा भी नहीं चाहते या सोचते।

पशुओं में यह झगड़ा नहींके बराबर है कि यहसम्पत्ति मेरी है यह अन्न, यह वस्त्र मेरा है; हम अकेले इसे खायँगे, रख छोड़ेंगे

अथवा नष्ट कर डालेंगे, इस पर दूसरे का अधिकार नहीं हो सकता। हाँ, मिलकर काम करने वाले साझीदार अपने अपने भाग के भागीदार होते हैं क्योंकि वह अपने साझीदारों के समाज के लिए काम करते हैं। लेकिन किसी आदमी को जिसे वेतन देकर रखते हैं, नफ़ा नुक़सान में हिस्सा नहीं देते क्योंकि उसे अपनी समाज में नहीं समझते। पर पशुओं से काम लेकर हम चाहे जितना माल पैदा करें उन्हें सूखा चारा डाल देते हैं, हिस्सा करके उनका हिस्सा उन्हें नहीं देते। निसर्ग से हमारा सबका सामाजिक सम्बन्ध एक है। सच तो यह है कि संसार के मनुष्यों के साम्पत्तिक सम्बन्ध इतने मिले जुले हैं कि एक ही मनुष्य-समाज संसार में है। अलबत्त थोड़े से मालदार मालिक लोग, जो श्रम नहीं करते, अपने हक़ या लट्ठ के बल से माल एकत्र करते हैं, समाज के बाहर के लोग हैं। न यह अपनी सम्पत्ति में किसी को भाग देते हैं, न दूसरा उन्हें देता है। बिना पारस्परिक योग के मनुष्य समाज का सिवा धन पात्रों के जो मालिक बनकर जबरदस्ती हिस्सा ले लेते हैं, काम ही नहीं चल सकता। इस तरह पर समता की समाज के लिए अनिवार्य्य आवश्यकता है। बिना इसके न तो औद्योगिक काम चल सकते हैं और न खेती बारी न वाणिज्य व्यापार। इसलिए समाज के विरुद्ध जाना न्याय के विरुद्ध जाना है और न्याय के विरुद्ध जाना समाज के विरुद्ध जाना है। क्योंकि समाज के हित के लिए समाज ने जो अपने

नियम बनाए हैं, वही कानून हैं और समाज में समता स्थापित करना ही न्याय है और विषमता अन्याय। इससे यह सिद्ध हुआ कि न्याय, समाज और समता समानार्थक हैं।

इस सिद्धान्त पर विचार पूर्वक ध्यान देने वालों को मालूम हो जायगा कि जो स्वामित्व का दावा करता है—कहता है कि यह धरती मेरी है, यह गाँव मेरा है, यह भाण्डागार मेरा है, इन पर दूसरों का कोई हक नहीं—वह समाज में विषमता फैलाता है; विषमता अन्याय है, इसलिए वह अन्याय करता है, समाज में भेद पैदा करता है, इसलिए वह समाज द्रोही है। पर जो सब मनुष्य के पास समान पदार्थ हो, तो अलबत्त कोई हर्ज नहीं क्योंकि समता स्थिर रहती है। हाँ, इस समता को कायम रखना चाहिए। जब मनुष्य बढ़ जायँ तो बढ़े हुए लोगों का भी शामिल करके समानाधिकार देते रहना चाहिए। इस सम्बन्ध में अधिक जानने की इच्छा रखनेवालों को लैनिनिज्म पढ़ना और मनन करना चाहिए। संसार सबके लिए एक समान बना है। प्रकृति का फल सबके लिए है। शाश्वत न्याय के विरुद्ध सामाजिक न्याय होना अनुचित है।

अब स्वतन्त्रता पर थोड़ा सा विचार करना चाहिए। स्वतन्त्रता का अर्थ है वाह्य हस्तक्षेपों से रहित मनुष्य (जिसमें स्त्रियाँ और गरीब लोग भी शामिल हैं) अपने जीवन को बिना स्वयम् अनावश्यक कष्ट उठाए और दूसरों को कष्ट दिए इस

संसार में बिता सकें। यह तभी हो सकता है जब चोरी, डकैती, लूट-खसोट और मनुष्य-मनुष्य का भेद-भाव मिट जाय। सबको देश की धरती, आकाश, जल, वायु, खेतों, आकरों से एक समान लाभ उठाने का अवसर हो। उस देश को स्वतन्त्र नहीं कह सकते, जिसके एक मुट्ठी भर आदमी तो समस्त प्राकृत पदार्थों को अपनी जबरदस्ती से आत्मसात् किए बैठे हों, और दूसरे अधिकांश देशवासी अन्न-वस्त्र के लिये कष्ट पाते हों, लालायित रहते हों, बात, बात में अप्राकृत (गैर कुदरती) कानून उनका गला घोंटता हो। केवल इसलिए कि हम को सताने वाले हमारे ही देश के हैं, हम स्वतन्त्र हैं, और यदि विदेशी हैं तो हम परतन्त्र हैं, यह भावना सदा अयौक्तिक और असंगत है।

इससे यह प्रत्यक्ष होता है कि समता और स्वातन्त्र्य का आधार न्याय ही है। जब न्याय समाज तथा समता समानार्थक शब्द हैं, तो सामाजिक स्वातन्त्र्य भी इन्हीं के भाव का द्योतक है। जहाँ कहीं भी मनुष्य को पृथ्वी से पैदा किया हुआ पदार्थ खाने की स्वतन्त्रता नहीं, वहाँ न्याय कहाँ? जब पहले-पहल मनुष्यों ने भू-माता की गोद में नेत्र खोले तब क्या धरती का बराबर बँटवारा था? क्या लोग हिस्से बाँट का पट्टा लेकर आए थे? यह सब भेद-भाव कलपित और निर्मूल हैं कि यह धरती हमारी है, हम अमीर हैं, तुम भूमि विहीन निर्धन गरीब हो। यह हक़ कब, कैसे और कहाँ पैदा होता है

कि एक आदमी मीलों धरती का अधिकारी बन जाय और दूसरों के पास एक इञ्च भी धरती न हो? जिस देश में ऐसी अनैसर्गिक अवस्था और व्यवस्था देखी जाती है, उस देश के निवासियों को स्वतन्त्र कहना स्वतन्त्रता का अपमान करना है। इस सम्बन्ध में अधिक विस्पष्ट और विश्लेषण पूर्वक विस्तृत रूप से कहने का यह स्थान नहीं है।

मैं समझता हूँ कि इस छोटे से लेख में इतना मसाला है, जो चतुर लोगों को इस बात के गम्भीर विचार में डाल देगा कि न्याय, नीति, समता और स्वातन्त्र्य क्या हैं? एक बार जो व्यक्ति, जाति या समाज इस विचार में पड़ जायगा, वह निश्चय ही उचित सिद्धान्त पर पहुँचे बिना न रहेगा।

यह लेख नवम्बर सन् १९२५ की माधुरी में निकला था।

इतिहास की कसौटी

सचाई की खोज मनुष्य का स्वाभाविक गुण है। सत्या-सत्य के निर्णय की इच्छा इसको जन्म घुट्टी में ही मिली पाई जाती है। मनुष्य जल्दी से उसी बात को सत्य मान लेता है जिसे वह प्रत्यक्ष जान लेता है। देखने, सुनने, सूँघने, चखने और छूकर जानने लायक़ वस्तु को वह देख, सुन, सूंघ, चख और छूकर उसकी सत्यता का निर्विवाद निश्चय करता है। यह प्रत्यक्ष प्रमाण होता है, इसी को वह प्रत्यक्ष सत्य कहता है।

लेकिन जब वह देखता है कि संसार के अगणित ज्ञातव्य पदार्थों को इस तरह पर प्रत्यक्ष अनुभव नहीं किया जा सकता तो वह बुद्धि और विचार से अनेक पदार्थों को जानने की इच्छा करता है। बुद्धि के आधार पर जो जाना जाता है उस सबको प्रत्यक्ष से मिलान खाता हुआ जान कर ही वह सन्तुष्ट होता है। इसी प्रत्यक्ष के सहारे समता या सामान्यता देख कर उपमान के द्वारा न जानी हुई बात को वह जानता है, एक घटना

को देख कर दूसरी मिलती जुलती घटना का अनुमान करता है। जब वह देखता है कि बहुत ऊँची पहाड़ी से नीचे खड़े हुए हाथी का आकार बहुत ही छोटा दिखाई देता है, तब उसके मन में अपनी आँखों देखी सब बातों को जैसी की तैसी मान लेने में संकोच होने लगता है और विचारता है कि चाँद, सूरज और तारे जो मुझे इतने छोटे दिखलाई देते हैं, अवश्य इतने छोटे नहीं हैं। ज़रूर जितने बड़े दीखते हैं उससे कहीं अधिक बड़े हैं। जब वह देखता है कि बिना माता पिता के प्राणी नहीं पैदा होते तो हज़ारों वर्ष पहले के लोगों के भी माता पिता होने का अनुमान करता है। इस तरह मनुष्य को बुद्धि की सहायता से प्रत्यक्ष किये हुए निर्णयों का भरोसा ही प्रत्यक्ष प्रमाण रह जाता है। क्योंकि उसे साधारण प्रत्यक्ष बातों में भी सन्देह उठने लगता है।

फिर जब देखा जाता है कि हरेक आदमी संसार की सारी बातों को जिनका जानना ज़रूरी है या जिनके जानने की उसके मन में प्रबल इच्छा केवल जानकारी के लिए ही होती है, नहीं जान सकता, तो उसे पूर्व पुरुषों की अनुभूत बातों को सुनने व मानने के लिये तैयार होना पड़ता है। इस सृष्टि में हमारे पूर्वजों ने अनेक बातों की सत्यता अपने अनुभव से हमसे पहले जानी व हमारे लिए अच्छा ज्ञान सञ्चित करके छोड़ा। बड़ी तत्परता के साथ आज उनकी बातों से हम लाभ उठाने को तैयार रहते हैं, उन्हें आदर से अपनाते हैं। इसी पुराने लोगों की

कही हुई बात को शाब्द प्रमाण कहते हैं। इसी इतिहास सम्बन्धी शाब्द प्रमाण को हम ऐतिहासिक प्रमाण कहते हैं। यही इस निबन्ध का विषय है। इसीलिए हमने इस निबन्ध का नाम इतिहास की कसौटी रक्खा है।

अब हम पहले विशेषता के साथ फिर इस बात पर विचार करेंगे कि प्रमाण क्या है?

अनेक विषय केवल विचार करने ही के होते हैं, जैसे 'ईश्वर' जैसा संसार मानता है, कोई पदार्थ, है या नहीं? समय और दिशाओं से परे कुछ है या नहीं? है तो क्या है? ऐसे विचारों में एक सीमा तक तर्क शास्त्र ही काम दे सकता है, विशुद्ध विवेक से ही निर्वाह होता है, कभी-कभी विशुद्ध विवेक से बाहर होकर विद्वान् लोग अपनी उड़ान लगाते हैं और अपने सिद्धान्त स्थापित करते हैं। हमको यहाँ ऐसे विचारों से कोई सम्बन्ध नहीं है। जिन विचारों का प्रमाण तर्क, युक्ति और मनोवैज्ञानिक अनुभवों से और सहज अनुभव की प्रेरणा से मिलता है, उनसे भी हमारा विशेष सम्बन्ध न होगा। जितने प्रयोग में आने वाले वैज्ञानिक प्रश्न हैं, चाहे वह दूसरे के अनुभूत हों या नए ही हमारी समझ में आए हों, उनकी सत्यता प्रयोग शाला में प्रमाणित या अप्रमाणित की जा सकती है। अनेक भौतिक विज्ञान की वैचारिक बातें जैसे ग्रहों की नाप, तोल और दूरी आदि, ऐसी ही और अनेक बातें हैं

जिनका गणित, तर्क, गतिस्थिति आदि शास्त्रों की सम्मिलत सहायता से होता है, किन्तु ऐतिहासिक वात के सत्यासत्य का निर्णय केवल शाब्द प्रमाण के ही आधार पर होता है।

संसार इतिहास मय है, हम विना इतिहास के एक क्षण भी गुज़र नहीं कर सकते। प्रतिदिन २४ घंटों में हम जितने काम करते हैं उनमें अधिकांश कानों के ही भरोसे पर होते हैं। कोई भी आदमी क्यों न हो, सारे कामों को अकेला नहीं कर सकता। उसे अवश्य दूसरों की वात का आश्रय लेना पड़ता है। जव हम भूत काल की किसी घटना को जानना चाहते हैं तव हमें वैज्ञानिक सत्य की तरह निर्णय करने का कोई साधन हा नहीं होता और हारकर हमें पुराने समय के लोगों की वातों का सहारा लेना पड़ता है। पहले चाहे लोगों को इतिहास की परख रही हो या न रही हो, पर अव यह नहीं हो सकता कि हम इतिहास की ओर से आँखें वन्द कर वैठें। इस आज के समुन्नत संसार में पढ़ना, लिखना, वहुत वढ़ गया है। विरला ही आदमी ऐसा होगा जो पिछले समय के इतिहास को जानने का अभिलाषी न हो, इतिहास धर्मिक हो, सामाजिक हो, राज-नैतिक हो, गली चलता आदमी भी कुछ न कुछ सुनना और जानना चाहता है।

लोगों की यह जानने की इच्छा होती है कि प्राचीन काल में हमारे वाप-दादों में कौन सी रीति रिवाजें प्रचलित थीं

विवाह कैसे होते थे, मकान कैसे बनते थे, कपड़े किस प्रकार के पहने जाते थे इत्यादि, इसी प्रकार के प्रश्न थोड़े से ज्ञान बढ़ जाने पर दूसरे देशों की बाबत भी मन में उठते हैं। पुरानी शासन प्रणाली, राजनीतिक परिस्थित, व्यक्तियों और जातियों के राजनीतिक सम्बन्ध प्रभृति अनेक बातों को भी हममें से सब नहीं तो अनेक जानने को लालायित रहते हैं। बहुतेरे लोग प्राचीन काल के नैतिक भावों और विचारों को जानकर यह निश्चय करने की कामना करते हैं कि नैतिक भावों का उत्कर्ष क्रमशः कैसे हुआ इसी प्रकार ललित कलाओं का, धार्मिक भावों का उद्गम और क्रमशः उन्नति करने का भी इतिहास हमारे कम मनोरंजन के कारण नहीं हैं। हम अपने बाप दादाओं के उत्थान और पतन की कहानियों के सुनने को उत्सुक रहते हैं। अपने देश की महत्व पूर्ण घटनाओं और महापुरुषों की बातों के जानने के लिए सदा बेचैन रहते हैं।

फिर ऐसा इतिहास जो हमें उपर्युक्त अनेक बातों की ख़बर दे, कहाँ मिले, कैसे संकलित हो, कैसे बने जिससे हमारी तृष्णा मिटे। अधिकतर तो हमें किंवदन्तियों और दन्त कथाओं पर विश्वास करके रह जाना पड़ता है। प्रागैतिहासिक काल की घटनाओं का यही हाल है, हम उनके सत्यासत्य का निर्णय ही नहीं कर सके। हमारे पास साधन ही नहीं है कि जिससे उन बातों की बाबत जान सकें कि कौन सी बात सत्य है, कौन सी

असत्य है। जहाँ जो बातें नैसर्गिक नियमों के विरुद्ध पाई जाती हैं उनको अलबत्त हम लोग मन में असत्य समझ लेते हैं।

जिस समय के लिखे हुए इतिहास मिलते भी हैं तो उनमें ऐसे भेद पाये जाते हैं कि बिना छान बीन किये किसी एक को सच्चा और दूसरे को झूठा कहना न्याय संगत नहीं हो सकता। एक ही बात को जितने आदमी कहते हैं उतनी तरह से कहते हैं। किसी घटना पर दो व्यक्तियों के वक्तव्य सुनिये तो मालूम होगा की बहुत सी बातों में दोनों में से एक की बात अवश्य ही विश्वास करने के योग्य नहीं है; क्योंकि परस्पर एक दूसरे का व्याघात होता है। कोई दो आदमी एक ही मन, विचार और स्मृत शक्ति वाले नहीं होते। एक किसी आचार, विचार, और भाव को महत्व देता है, दूसरा और किसी को। यह बात जानने के लायक़ है और सहज में जानी भी जा सकती है। जो लोग इतिहास के सच्चे प्रेमी हैं और चाहते हैं कि इस विद्या का संसार में विकास और प्रचार हो वे इसी ओर अधिक श्रम के साथ अपना दिमाग़ लड़ाते रहते हैं, इन्हें तो यह बात जान लेनी बहुत ज़रूरी है कि वास्तविक इतिहास-ज्ञान क्या है? कहाँ से आता है? और मनुष्य के अन्य ज्ञान की दूसरी शाखाओं से इसका कितना अन्तर है?

बिना प्रामाणिकता के जो बात मान ली जाती है उसी का नाम अन्ध विश्वास और कोमल शब्दों में सरल विश्वास या मात्र विश्वास है। इतिहास का अधिकतर अंश विश्वास ही पर टिका रहता है बिना इसके काम ही नहीं चल सकता। जब तक हममें मुर्दों को बुलाकर पब्लिक में अन्वेषक प्रश्नों के सहित पूछने का अवसर न मिले, सचाई का सीधा व वस्तुतः प्रमाण कैसे मिले? अगर अवसर मिले, यह असम्भव बात सम्भव भी हो जाय तो इस बात की ज़िम्मेदारी कोई नहीं ले सकता कि सब को याद एक सी होगी। अगर आज महाराणा प्रताप और सम्राट् अकबर को बुलाकर उनके पारस्परिक सम्बन्ध की घटनाओं की बावत बहुत से प्रश्न किये जायँ तो अनेक बातों का उत्तर उनसे भी यही मिलेगा कि याद नहीं। फिर ऐसे लोगों की तो बात ही क्या है जिनका घटना के साथ कोई सम्बन्ध न हो। हमारा ऐतिहासिक ज्ञान जो कुछ भी प्रामाण्य मानता है वह दूसरों के ही प्रमाण पत्र के आधार पर मानता है, चाहे यह हमारी पुरानी स्मृति-भाण्डार का फल हो, चाहे कोई नई बात हमारे सामने आई हो। दूसरों की बातों को सुनकर हम जिस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं वह विश्वास ही है, कोई वास्तविक ज्ञान नहीं है। हम तो अपने सामने जो सामान मौजूद होता है उसी से अपने वश भर सच्चा नतीजा निकालते हैं। अगर मैं आँधी चलते, ओले पड़ते देख लू तो कहा जा सकता है कि मैं जानता हूँ कि

आंधी चली, ओले पड़े, लेकिन किसी शैतान की तरह मशहूर साधारण घटना की बाबत भी, चाहे हमारा उस पर कितना ही पक्का विश्वास क्यों न हो, यह नहीं कह सकते कि हम यथा-वत् उसे जानते हैं, अगर कहें तो शायद ही कभी हमारा यह कहना बावन तोले पाव रत्ती ठीक हो सकेगा। क्योंकि किसी घटना को आद्योपान्त देखना और ज्यों का त्यों याद रखकर कहना बहुत कठिन है। हम कोई मेला देखने गये तो मेले की हर एक बात को कैसे देख कर जान सकते हैं। बरात निकलते देखकर हम कह सकते हैं कि किसी का या अमुक व्यक्ति का विवाह है। किन्तु बरात में कितने हाथी, घोड़े, बाजे, आतिश-बाज़ी और बराती हैं, क्या क्या रस्में हुईं, कब हुईं, कैसे हुईं, इन बातों के लिए तो हमें अवश्य ही दूसरों की जबानी पर विश्वास करना होगा। प्रायः ऐतिहासिक जानकारी जो अधि-कांश लोगों को होती है वह इससे भी कम होती है। यह लोग विचार और विवेक से काम लेकर किसी घटना का निर्णय नहीं करते, सिवा इसके कि वह समझ लें कि जो हमने दूसरों से सुना है सोलह आने सत्य है। इस प्रकार के विश्वास की मात्रा लोगों में धार्मिक बातों के सम्बन्ध में इतनी पाई जाती है कि जिसका ठीक ठिकाना ही नहीं होता। कोई सूरज को निगल जाता है, कोई चांद को तोड़ देता है, कोई पहाड़ उठा लाता है, कोई हवा पर बेसहारे उड़ता है, कोई आकाश में घोड़े दौड़ाता है और सब सत्य और प्रामाणिक बातें समझी जाती हैं।

इतिहास का अध्ययन ऐसे सरल विश्वासियों से नहीं हो सकता जो हर एक बात को बिना बिचारे दूध की सी घूंट गले के नीचे उतार लें। साथ ही इतिहास का अध्ययन बिना दूसरों की बात को बहुधा अंगीकार किए भी नहीं हो सकता, यदि हम अपने नित्य प्रति के जीवन में ही किसी का विश्वास न करें, हरेक बात को स्वयं निर्णय करने और देखने को दौड़ते फिरें तो हमारी जीवन यात्रा दुस्तर हो जाय। इसलिए हमें अपने संवाद-दाता की बात को एक बार तो ऐसा ही मानना पड़ता है कि वह शुद्ध हृदय से जिस बात को जैसी जानता है, वैसी कह रहा है और निर्भ्रान्त सत्य कह रहा है। चाहे हमारा संवाद-दाता अपने ज्ञानेन्द्रियों और बुद्धि से काम लेने में अयोग्य हो, चाहे संवाद-दाता के विचार पक्षपात पूर्ण हों, हम उसे झूठा नहीं समझ सकते जब तक उसकी सचाई के विरुद्ध कोई पुष्ट प्रमाण न मिल जाय। दूसरों की बातों को लोग क्यों सच मानने को तैयार हो जाते हैं? इस प्रश्न का उत्तर है 'मनुष्य स्वभाव'। मनुष्य स्वभाव में जहाँ दूसरे की बात को ठीक मानना है ;वहाँ उसमें आविष्कार करने की प्रवृत्ति और जो सुने उसे जैसी याद रहे उसे वैसी कह देने की आदत भी है। कभी-कभी मनुष्य स्वार्थ वश सचाई को छिपाता है या उसमें हेर-फेर करता है, उस पर रंगामेज़ी करता है या हाशिए चढ़ाता है। इसलिये झुठाई से एक दम बचने का कोई उपाय नहीं। इस दशा में हमें यही उचित जान पड़ता है कि हम जो

कुछ सुनें या पढ़ें उसे सम्भवतः सच समझें और फिर उसके विरुद्ध कारण पाने पर उस पर विचार करें बिना इसके न दुनिया में हमारा काम चल सकता है न हम अपने ज्ञान की वृद्धि कर सकते हैं।

लेकिन इतिहास के अध्ययन और मनन में हमें कुछ अधिक सत्यासत्य का विचार रखना पड़ता है, आँख बन्द करके अर्थात् विचार हीन होकर पढ़ने से वास्तविक ऐतिहासिक ज्ञान हमें नहीं मिल सकता। सत्यासत्य के जाँच की कसौटी काम में न लाएँ, खरे-खोटे की परख न करें तो हम सच्चे अर्थों में इतिहासकार नहीं हो सकते। इसलिए ऐतिहासिक प्रामाणिकता की जाँच के सिद्धान्तों को इतिहासकारों के लिए अपने सामने रखना ज़रूरी है।

ऐतिहासिक सत्य की खोज के लिए हमें दार्शनिक और वैज्ञानिक बातों में जाना अनिवार्य नहीं है। हमें तो अपने दिमाग़ से बाहर की आई हुई सूचनाओं और संवादों पर विचार करना होता है। हरेक सूचना और संवाद को जुदा-जुदा बहुत से लोग पढ़ते हैं, और हरेक उसका अर्थ अपने ढंग, अपनी अभिरुचि और अपनी बुद्धि के अनुसार लगाता है, कोई उसी बात को अक्षरशः सत्य मान लेता है, कोई उसमें सन्देह करने के पर्याप्त कारण देखता है, कोई उसीको नितान्त असत्य समझता है। कागज़ एक ही है, संवाद ज्यों का त्यों

वही है, पर उसके प्रति भावनाएं अलग-अलग हैं। हरेक़ अपने निर्णय का कारण भी रखता है। लेकिन कोई इसके सिवा और क्या कहे कि मेरी समझ में यह बात सत्य है या असत्य है या सन्देहात्मक है। लेकिन इतिहासज्ञ इतना कहने से कि मेरी समझ में यह बात सत्य है या असत्य, छुटकारा नहीं पा सकता, उसे उन कारणों को बतलाना पड़ता है जिनके आधार पर वह किसी बात को सत्य या असत्य मानता है, उसे तर्क और युक्ति से सिद्ध करना पड़ता है कि जिन कारणों से वह किसी बात को सत्य या असत्य मानता है वह उसके निर्णय को समर्थन करने के लिए पर्याप्त हैं। सम्भव है कि इन कारणों को जानने पर दूसरों को पूरा सन्तोष हो जाय, या कुछ लोग कारणों के सुनने पर इतिहासकार की बात विश्वास करके उसे सत्य मान लें। बहुत लोग ऐसे भी होंगे जो कारणों के जानने पर भी सन्तुष्ट न होंगे और इतिहासकार के निर्णय को न मानेंगे, इस दशा में सिवा चुप रह जाने के इतिहासकार और क्या कर सकता है? यह कोई वैज्ञानिक प्रयोग तो है ही नहीं जिसे प्रयोग शाला में जाकर किसी को उसकी सत्यता प्रत्यक्ष करा दें। एक ने कहा "अफ़ज़ल के मारने में शिवा जी की दग़ाबाज़ी थी," दूसरे ने कहा, नहीं अफ़ज़ल ने दग़ा करने के लिए शिवा को आमन्त्रित किया था, इसलिए शिवा ने अफ़ज़ल को अपनी रक्षा के लिए मारा तो उचित किया। दोनों ने अपने-अपने कारण भी सामने रख दिये। अब तीसरा

आदमी कहता है कि मैं पहले की बात से सहमत हूँ। उसके बतलाए हुए कारण समीचीन जान पड़ते हैं और दूसरे के कारण पुष्ट नहीं प्रतीत होते। अथवा यह तीसरा आदमी दूसरे की बात को समीचीन मान ले और शिवा को निर्दोष समझे। इस दशा में इतिहासकार के पास कोई ऐसा साधन नहीं होता कि वह किसी को एक बात का निश्चय करा ही दे। कोई नहीं कह सकता कि जितने प्रमाण मैंने दिये हैं इससे अधिक प्रमाण और हो ही नहीं सकते।

यहाँ तो विशुद्ध तर्क शास्त्र का भी अधिकार नाम मात्र का ही होता है। तर्क शास्त्र तो सिद्धान्त स्थापित करता है चाहे वह सार्वभौम हो या एक देशीय, चाहे वह अभाव वाचक हो या भाव वाचक, किन्तु इतिहास पहले की किसी प्रघटित घटना पर विचार करता है। इसलिए व्याप्ति, अव्याप्तिवाद के नियम वहाँ काम नहीं दे सकते। व्याप्तिवाद तो मूलवाक्य और उपनय के आधार पर फल निकालता है। यदि किसी रूप के मूल वाक्य और उपनय सत्य न हों तो फल भी ठीक नहीं निकल सकता। इतिहास के सत्यासत्य की खोज में इन नियमों की कहीं दाल नहीं गलती। यदि कहीं इतिहासकार तर्क शास्त्र के नियमों से काम भी ले तो वह कोई बावन तोले पाव रत्ती ठीक परिणाम पर पहुंचने का दावा नहीं कर सकता। निगमन तर्क की भाँति आगमन तर्क भी यहाँ सचाई की खोज में पूर्ण सहायता नहीं

कर सकता। उसमें सामान्य से विशेष की ओर जाकर किसी बात की व्याप्ति को ढूँढते हैं, इसमें विशेष से सामान्य की ओर जाकर किसी गुण की व्यापकता का पता लगाते हैं। इतिहास में दोनों रीतियाँ काम नहीं देतीं। यहाँ तो सामान्य कुछ है ही नहीं, सब घटनाएँ विशिष्ट ही विशिष्ट हैं। दो चार घटनाओं में कुछ समता मिलने से कोई सामान्य स्थापित नहीं हो सकता। यह तो नहीं होता कि घटनाएं एक सी होती रहें और एक सी घटना का फल भी एक सा ही होता रहे। जिस जगह से गिरकर एक आदमी मर जाता है दूसरा उसी जगह से गिरकर नहीं मरता।

जब हम किसी विवरण विशेष को 'प्रमाण' कहते हैं तो यह मानकर कहते हैं कि यह 'विवरण' सत्य है। इससे कुछ फल निकल सकता है। वह विवरण प्रमाण उस समय बनता है जब उसके आधार पर कोई परिणाम निकाला जाय। परिणाम या नतीजा कई तरह का हो सकता है, जैसे सरल, असंदिग्ध अथवा असन्निहित और फेर का। साथ ही हो सकता है कि परिणाम प्रतीति जनक हो, मात्र अनुमान की ओर इशारा करता हो अथवा नितान्त बे सर पैर हो। परिणाम कैसा भी क्यों न हो, नतीजा चाहे जैसा निकले, इससे मतलब नहीं, जिस विवरण का आधार ऐसे नतीजे का कारण होता है, सुनने वाले के लिए वह प्रमाण है। किसी दुरुस्त होश

दवाख वाले दूकानदार ने बाहर से आकर अपने पड़ोसियों से कहा कि 'सरल' शराबख़ाने में बैठा शराब पी रहा था। सुनने वालों के लिए यह एक प्रमाण हुआ, क्योंकि उन्होंने समझा कि सचमुच यह आदमी शराबख़ाने में शराब पी रहा था, चाहे कहने वाले ने 'सरल' को पहचानने में भूल की हो, चाहे दुर्भाव से झूठा दोष लगाया हो और बात मिथ्या ही सिद्ध हो। लेकिन सुनने वालों के लिए यह एक प्रमाण है। सम्भव है कि किसी श्रोता के मन में इस बात को सुनकर यह सवाल पैदा हो कि 'सरल' तो महीनों से बाहर गया हुआ है, शायद लौट आया होगा। जो भी हो, दूकानदार की बात प्रामाण्य समझी जायगी। संवादपत्रों की बातों का भी यही हाल है। एक बार अवध अख़बार ने छाप दिया कि शिमले में वायसराय की मोटर टकरा गई। पढ़ने वालों ने इस संवाद को सच मान लिया, कई दूसरे संवाद पत्रों ने इसे उद्धृत कर दिया, पर बात अन्त में असत्य निकली। इस में अवध अख़बार का कोई अपराध न था, उसने स्वयम् धोका खाया, परन्तु उसे एक बार बात का विश्वास करना ही पड़ा। असत्य जानते ही उसने बात के असत्य होने की घोषणा की। कभी-कभी अनेक प्रमाणों पर युगपत् विचार करना पड़ता है। एक ही बात को चार आदमी चार तरह पर कहते हैं। हमें चारों को सुनकर एक निष्कर्ष निकालना होता है। यहाँ किसी के विश्वास और अविश्वास का प्रश्न नहीं है, किन्तु कई परस्पर

विरोधी या अनमेल बातों के आधार पर हम सच्चाई की खोज करते हैं, जहाँ तक भी हमारी बुद्धि काम दे।

हमारी ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष बातों में भी यह बात होती है, देखना पड़ता है कि कहीं हमारी इन्द्रियों ने भूल तो नहीं की। जब मैं स्कूल में पढ़ता था, एक बार चार बजे सबेरे चाँदनी रात में टहलने जाते हुए जंगल में सड़क के किनारे ऐसा मालूम हुआ कि कोई आदमी सफ़ेद कपड़े पहने खड़ा है। मैं डर गया और आँख बन्द करके उस ओर बढ़ा और अपनी लकड़ी ज़ोर से अर्द्ध वृत्ताकार फिराई। लकड़ी उस बैसाखी में लगी जो सफ़ाई करने वालों से अपने झोंपड़ों को हटाते समय छूट गई थी, क्यों कि कुछ पहले यहाँ मेला गाड़ा जाता था। खड़का होने से मैंने आँख खोल कर देखा तो छप्पर के साधने की बैसाखी थी, अनेक बार हमारी आँखों और कानों को धोखा होता है। यही बात सुने और पढ़े संवादों की बाबत भी हो सकती है।

सच है, हर एक व्यक्ति जो वर्तमान घटनाओं से एक दम उदासीन होकर नहीं रहता, नित्य इस तरह का अनुभव करता रहता है। अन्तर यही है कि साधारण लोग धूल में लट्ठ मार देते हैं और समझदार लोग, इतिहासकार लोग समझ बूझ कर एक पद्धति के साथ काम करते हैं। रात दिन संवाद पत्रों में आँखों की देखी बातें जो रिपोर्टर भेजते हैं उनको इतिहासकार

उसका प्रधान लक्ष्य झगड़ा निबटाना होता है न कि सत्यासत्य का निर्णय करना। अगर सत्यासत्य का निर्णय वह करती है तो झगड़ा निबटाने के लिए न कि सत्य की खोज की लगन और प्रेम से। फिर भी वर्तमान समुन्नत काल की अदालतों की जो प्रथाएँ या पद्धतियाँ सत्य के खोजने की हैं, वह व्यर्थ, निष्प्रयोजन और तिरस्करणीय नहीं कही जा सकतीं। उनका अनुकरण करने से हमें ऐतिहासिक खोज में बहुत सहायता मिलती है। निस्सन्देह, प्रत्यक्ष का मूल्य परोक्ष से अधिक होता है। देखी और सुनी में बड़ा अन्तर है। उद्गम स्थान की मौलिक बात मिल जाने से भूल का बहुत अंश तक निराकरण हो जाता है, सत्य की खोज के मार्ग में चलते हुए कम से कम एक गढ़े में गिरने का भय तो कम हो ही जाता है। अदालत की परिस्थित भी अपूर्व होती है, अनेक बातें ऐसी हैं जिनसे वैज्ञानिक या इतिहासकार को सत्य की खोज में क्षति नहीं पहुँच सकती किन्तु अदालत के काम में पहुँच सकती है। अदालत में स्वार्थपरता, पक्षपात आदि दुर्वासनाएँ सत्य पर पर्दा डालने को तैयार रहती हैं। इतिहासकार जो मौलिक लेख न देखे, नक़ल से काम ले तो धोखे का डर नहीं। धोखा हो भी तो भूल का आगे सुधार होना सम्भव है। इसी तरह वैज्ञानिक को अगर दूसरे के अन्वेषण या आविष्कार की ज्यों की त्यों स्मृति न हो तो कोई अनर्थ नहीं हो सकता, पर न्यायालय में अनर्थ हो सकता है। जिस प्रमाण के आधार पर किसी को दण्ड हो गया या किसी

की सम्पत्ति हस्तान्तरित हो गई तो फिर किए का अनकिया करना असम्भव हो जाता है। इस लिए अदालत की बात विज्ञान और इतिहास की खोज से भिन्न है, दोनों में बहुत अन्तर है।

विज्ञान और इतिहास की खोज में कोई विशेष व्यावहारिक अभीष्ट सामने नहीं होता, उन्हें तो केवल सत्य के ही लिए सत्य की खोज करनी होती है। वैज्ञानिक और इतिहासकार अपने निर्णय को चाहे जितने दिन तक डाल रखें, जब उन्हें सन्तोष हो जाय तब अपना मत प्रकट करें, कोई जल्दी नहीं रहती। इतिहासकार या वैज्ञानिक अपने अधूरे निर्णय को भी अपूर्ण कह कर प्रकट कर सकता है। इन लोगों की खोज में नियमों का बन्धन लगाना, समय को परिमित करना अन्याय होगा। अदालतों की तरह इनके प्रमाणों के संग्रह और छानबीन में बाधा डालने का तो बहुधा यह अर्थ होगा कि प्राप्य प्रमाणों का निरादर, तिरस्कार और त्याग किया जाय। इसलिए अदालतों और इतिहासकारों की खोज में भारी भेद है। अब हम देखते हैं कि वैज्ञानिक और ऐतिहासिक खोज में क्या अन्तर है। इनके प्रमाणों में क्या भेद है।

विज्ञान और इतिहास दोनों ही बिना किसी कड़े बन्धन के सचाई की खोज करते हैं, अभीष्ट दोनों का एक है। दोनों ही प्रमाण की विश्वास पात्रता का निर्णय करना चाहते हैं, फिर भी दोनों के प्रमाण की खोज में कई बातों में अन्तर है। विषय

जो भी हो, सारे अनुसन्धानों को एक ही सिद्धान्त पर अपने साथियों की निर्दिष्ट उक्तियों की परख और उनके मूल्य का अनुमान करना पड़ता है। देखना पड़ता है कि कहने वाला आदमी सत्यनिष्ट है या नहीं; अपने पर्यवेक्षण में सटीक, भाषा में निर्भ्रान्त और परिणाम के निकालने में तर्क कुशल है या नहीं। नैतिक गुणों और प्रतिभा की सर्वत्र ज़रूरत, होती है, चाहे कोई भी कार्यक्षेत्र हो। किन्तु इतिहास में तो बहुत ही नीतिमत्ता और दूरदर्शिता की ज़रूरत होती है, क्योंकि इस क्षेत्र में और बहुत से ऐसे कारण होते हैं जो साक्षि के बयान पर पर्दा डाल देते हैं। विशेष अन्तर विज्ञान और इतिहास के मामले में कई तरह का देखा जाता है जैसे—

१—जिन प्रमाणों से काम पड़ता है उनकी प्रकृति में।

२—प्रमाणों से काम लेने की पद्धति में।

३—उन फलों में जिन तक पहुंचने का उद्देश्य है।

४—उस निश्चय के मोल तोल में जिसकी वह आशा करते हैं।

१—प्राकृतिक विज्ञान का विषय होता है, भौतिक प्रकृति का तथ्य। जो पुराने लोगों की बात को इस विषय पर मान लेते हैं और आगे बढ़ते हैं तो कोई हर्ज़ नहीं। हम जब चाहें उनकी सचाई की प्रत्यक्ष जाँच कर सकते हैं। परीक्षा करके देखने पर सन्देह का कोई स्थल बाक़ी नहीं रह जाता। प्राकृतिक नियम अटल हैं, सर्व देशीय हैं, एक समान हैं। इतिहास

में यह बात नहीं है। यह तो मनुष्यों के कामों से ही सरोकार रखता है। एक क्रिया मनुष्य एक समय में करता है, उसको किसी प्रयोग शाला में दुहरा कर सत्यासत्य का निर्णय नहीं हो सकता। इतिहासकार तो इन अकेली स्वतन्त्र घटनाओं को एक दूसरे के साथ मिलान करके देख सकता है और फिर अपनी राय क़ायम करता है कि इन सब पिछली घटनाओं के देखते परिणाम विशेष निकल सकता है या नहीं। इतिहास-कार, देश, काल, पात्र और घटनाओं का परस्पर सम्बन्ध ख़ूब सोच समझकर परिणाम पर पहुँचता है। विज्ञान का सा विषय इतिहास नहीं है।

२—वैज्ञानिक खोज का मूल धर्म होता है। इष्ट व्यापार के कारणों का ढूँढना। एक कल्पना स्थिर करके लगातार परिवीक्षण और परीक्षण द्वारा उसकी विश्वास-पात्रता की जाँच पड़ताल की जाती है। विज्ञान के विद्यार्थियों के लिए परीक्षण में कुशल होना सब कुछ है।

वैज्ञानिक के पास अपने साध्य की सिद्धि और असिद्धि के लिए अनेक साधन होते हैं। जब एक बात सिद्ध हो गई तो फिर कोई विवाद शेष नहीं रहता। इतिहासकार की परिस्थिति और प्रगति दूसरी ही है उसे विभिन्न प्रकार के ऐसे सामान से काम लेना पड़ता है जो निर्विवाद सत्य नहीं किन्तु विवरण मात्र होता है। वह तो जैसा ऊपर कहा गया, बातों का मिलान करके उनकी सचाई को तोलता और परखता है।

३—वैज्ञानिक खोजों में सार्वभौम प्रमेयों का स्थापित करना अभीष्ट होता है। यह वैज्ञानिक खोजें नाना प्रकार की होती हैं। वहुतेरी वहुत लोकोपकारी वातें होती हैं, जैसे देग-सार लोहे की ढली चीज़ अगर लोहे में परिणत कर दी जाय तो वह अधिक दृढ़ और टिकाऊ हो जाती है। अनेक वातें केवल हमारे ज्ञान की वृद्धि का ही हेतु होती हैं और उनसे भी वहुत लाभ होता है, उदाहरण के लिए आकर्षण शक्ति का ज्ञान, पदार्थों के वोझ का ज्ञान, विद्युत के चाल की जानकारी इत्यादि। सार यह कि विज्ञान-सम्बन्धी वातें सर्व देशीय और व्यापक होती हैं। इनके प्रतिकूल इतिहास की वातें सभी एक देशी और अव्यापक होती हैं और प्राचीन काल से सम्बन्ध रखती हैं। घटनाओं को देखकर किन्हीं कारणों का अवश्यम्भावी फल राजनीतिज्ञ लोग व्यापक मान सकते हैं। परन्तु वैज्ञानिक व्यापकता वाली वात इससे कोसों दूर होती है। हम इतिहास से जानते हैं कि जाति भेद का परिणाम रोम में झगड़ा हुआ था। जिन जिन सरकारों ने जितने अधिक अत्याचार किए उतनी ही जल्दी उनका सर्वनाश हुआ। लेकिन कितने समय में होता है, किस रीति से होता है, क्रमशः कौन कौन सी घटानाएँ होती हैं यह कोई दावे के साथ नहीं कह सकता। मनोविज्ञान और ऐतिहासिक घटनाओं को देख कर इतना ही कह सकते हैं कि दमन नीति का फल दमनकारो को घातक सिद्ध होता है।

४—विज्ञान की खोज पूरी निर्विवाद सत्य होती है। इतिहास 'सम्भव' 'अतिसम्भव' के आगे नहीं बढ़ सकता। विज्ञान निश्चय करता है, इतिहास विचारता है, और ऐसा अनुमान करता है जिसकी सर्वथा सत्य होने की ज़िम्मेदारी नहीं हो सकती। दोनों के नतीजों के तोल मोल में प्रत्यक्ष अन्तर है।

यहाँ तक हमने प्रमाण के स्वरूप का लक्ष्य कराया है, उसके मारपेच बतलाये हैं, ऐतिहासिक क्षेत्र की कठिनाइयाँ और उसके प्रमाणों की परिस्थिति का ज़िक्र किया है। अब हम दूसरे लेख में यह बतलाने की कोशिश करेंगे कि हमें ऐतिहासिक जानकारी कहाँ कहाँ से होती है।

(२)

ऐतिहासिक बातों का पता मिलने के बहुत मार्ग हैं। जिन बातों का पता लगता है उनका महत्व भी जुदा जुदा होता है। लेकिन सुभीते के लिए मोटे तौर पर हम इनको दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। इनमें एक प्रधान है, दूसरा गौण। प्रधान वे लेख हैं जो इसी लिए लिखे गये हों कि लोगों को उनसे किसी विषय की जानकारी हो, वे उन्हें पढ़ें और उन पर विश्वास करें। लेख चाहे जिस प्रकार के हों। सम्भव है कि उनके लेखकों को स्वायम् पूरी बात का पता न लगा हो अथवा उन्होंने निर्णय करने में ही भूल की हो, पक्ष-पात से काम लिया गया हो, सत्य को छिपाना अभीष्ट हो। इस तरह के लेख का मूल्य कुछ भी हो, पर वह लिखा इसी लिए गया हो कि लोग पढ़ें

और सत्य को स्वीकार करें। ऐसे लेखों को प्रधान प्रमाण मानकर उन पर विचार होगा। इस प्रकार के लैखिक प्रमाण में ऐतिहासिक आख्यान, सरकारी काग़ज़-पत्र, घरू चिट्ठी-पत्री जिनमें सार्वजनिक हित की वातें हों, शामिल हैं। इन्हींके आधार पर इतिहास तैयार किया जाता है।

गौण प्रमाण इतिहास पर आकस्मिक प्रकाश डालते हैं। इनका मौलिक उद्देश इतिहास नहीं होता, न वे किसी को किसी वात का विश्वास कराना चाहते हैं। फिर भी ये वड़े काम के होते हैं। सन्देह होने पर इनके द्वारा प्रधान ऐतिहासिक प्रमाण की सचाई की जाँच होती है, विशेषतः उस दशा में जव जानी हुई वातों में परस्पर विरोध होता है। जैसे समय और स्थान के सम्वन्ध में सन्देह हो तो ग्राम्य गाथाओं और पँवारा गानेवालों के गीतों से वहुत मदद मिलती है। इन गौण प्रमाणों में अनैतिहासिक और पौराणिक गाथायें भी शामिल हैं। इनमें लैखिक ऐतिहासिक प्रमाण के लक्षण नहीं होते, इनकी रचना किसी स्मृति को स्थायी वनाये रखने के लिए जिसे वनानेवाले सत्य और महत्त्वपूर्ण समझते थे, की जाती है। इनसे समय और स्थान के सिवा रीतिरिवाज, आचार व्यवहार, पहनाव आदि का वहुत कुछ आभास मिलता है। विना इन सव वातों की छानवीन किये, विना पौराणिक गाथाओं और दन्तकथाओं को अच्छी तरह हिला-डुलाकर देखे कोई इतिहासकार अपना काम जैसा चाहिए वैसा नहीं कर सकता। यह वात ज़रूर है

कि यह कठिन काम है और सिद्धहस्त इतिहासकार ही इन गौण प्रमाणों से अच्छा काम ले सकता है। इन गौण प्रमाणों को खोज के साथ जो इतिहास लिखा जाता है वह सर्वाङ्गपूर्ण होता है।

प्रधान लैखिक प्रमाणों के हस्तगत होने पर उनकी विश्वासपात्रता की जाँच करनी पड़ती है। कोई विषय क्यों न हो, किसी अभिप्राय से क्यों न लिखा गया हो, इतिहासकार को लैखिक प्रमाण के खरे-खोटे की जाँच करने के लिए यह देखना ज़रूरी है कि लेखक के पास प्रस्तुत विषय के ठीक ठीक जानने के साधन क्या थे; उसकी पूरा तरह निरीक्षण करने और शुद्ध निर्णय करने की शक्ति कैसी थी और हम कहाँ तक उसकी बात को निष्पक्ष सत्य मान सकते हैं।

इस कसौटी पर कसने के बाद अगर बात विश्वास करने लायक़ मालूम हो तो ठीक है। जिस भाव से हम अदालत में प्रतिपक्षी से जिरह करके सत्यासत्य का निर्णय करते हैं, उसी भाव से हम लैखिक प्रमाणों को उसके समकालीन दूसरे लेखकों की रचनाओं और गौण प्रमाणों से तुलना करके उसकी विश्वासपात्रता जान सकते हैं।

जो लिखित साक्ष्य या प्रमाण इतिहासकार के सामने आता है वह उसको लेकर हर किसी कसौटी से उसके खरे-खोटे का निर्णय करता है। लिखित वर्णन भी कई प्रकार से दूषित हो सकते हैं। यदि स्वयम् ग्रन्थकार के हाथ का लिखा हुआ विवरण न मिला और वह केवल दूसरे की लिखी उसकी

प्रतिलिपि ही हुई तो प्रतिलिपि में भूल होना सम्भव है। ऐसी भूलें जान बूझकर न करने पर भी हो जाती हैं। यह बात हम नित्यप्रति देखते हैं। बहुधा प्रतिलिपि करनेवाले अपने बुद्धि-बाहुल्य के कारण और कभी-कभी अन्य कारणों से भी दूसरे की लिखी पुस्तकों में कहीं-कहीं हेर-फेर कर डालते हैं। एक ही घटना को अगर शिया लिखेगा तो एक तरह, यदि सुन्नी लिखेगा तो दूसरी तरह। अगर एक की लिखी पुस्तक दूसरे के हाथ में प्रतिलिपि करने को आ जाय तो निश्चय ही उसमें हेर-फेर होगा। यही बात एक सीमा तक भारत के कट्टर जैनों और वैष्णवों में भी रही है, यद्यपि अब २५ वर्ष पहले की सी कट्टरता और विरोध नहीं है। फिर यदि लेख की भाषा कई शताब्दी पुरानी हुई तो उसके समझने में भी अन्तर पड़ सकता है, लिपि में भी भेद हो सकता है। इससे भी प्रतिलिपि का दूषित होना बहुत आश्चर्य की बात नहीं है। लेकिन ऐसा होता बहुत कम है।

ऐतिहासिक लेखों के आभ्यन्तरिक मन्तव्यों और मूल की भी आलोचना और समीक्षा की आवश्यकता पर ज़ोर दे सकते हैं। लेकिन मूल की समीक्षा करना विशेषज्ञ का काम है और प्रमाण की दृष्टि से इसको अधिक महत्त्व नहीं दे सकते।

छापे की कला प्रचलित होने के पीछे के लेखों के सम्बन्ध में मूल के दोषों का प्रश्न नहीं उठता, उठता भी है तो बहुत

विरल। छापेख़ाने में जो ऐतिहासिक आख्यान या प्रवन्ध प्रकाशन के लिए जाते हैं वे लेखक के शब्दों में ज्यों के त्यों छापे जाते हैं। हाँ, राजकीय काग़ज़-पत्र या बहुत सी घरेलू लिखा-पढ़ी सार्वजनिक लिखतों और ऐतिहासिक आख्यानों की अपेक्षा अति-रञ्जित होती हैं। यदि कभी किसी ऐतिहासिक खोज करनेवाले को ऐसे काग़ज़-पत्रों पर विचार करने का अवसर पड़े तो ये तभी ठीक हो सकेंगे जब असली काग़ज़ या उनकी सुरक्षित अविकल प्रतिलिपियाँ मिलेंगी जो मूल के समान ही सच्ची समझे जाने की हैसियत रखती होंगी। परन्तु इन छपे हुए काग़ज़-पत्रों के भी मूल शब्दों की शुद्धि पर कोई सन्देह नहीं उठता, हाँ उनमें लिखी हुई बातों पर प्रश्न उठ सकता है। प्राचीन और नवीन लेखकों की कृतियों और शिला-लेखों में भेद किया जा सकता है। शिला-लेखों, धातु-पत्रों को ऐतिहासिक मौलिक प्रमाण मानते हैं। इसी से ऐसे अनेक लेख सावधानी के साथ नक़ल करके पुस्तकाकार और एशियाटिक सोसाइटी सदृश सरकारी वा अर्द्ध सरकारी और अनेक ग़ैर सरकारी संस्थाओं की पत्रिकाओं में छापे गये हैं। बहुतों के छाया-चित्र देकर उनके नीचे लेखों के पाठ और अर्थ प्रचलित भाषा में छापे गये हैं। ऐसा ही, बल्कि इससे अधिक उत्साह और व्यय के साथ यह काम पाश्चात्य देशों में हुआ है। इसका अभिप्राय केवल यही है कि इनकी अन्तर्लिखित बातों को संसार को जानकारी हो। यह बात दूसरी है कि किसी शिला-

लेख के पढ़ने में कहीं कुछ भूल रह गई हो, किसी वाक्य के अर्थ में या पाठ में मतभेद हो, वाक्य अधूरे हों, अभी तक पढ़े न जा सके हों, लेकिन उनके मौलिक प्रमाण होने में कोई भी सन्देह और विवाद का स्थान बाक़ी नहीं रहता। क्योंकि उनका सच्चा मौलिक लेख हमारी आँखों के सामने मौजूद है। ऐसे अटल ऐतिहासिक प्रमाण न जाने कितने अभी भूगर्भ में निवास करते होंगे।

ऐसी अनेक गाथाओं, पँवारों, दन्तकथाओं और पुस्तकों की बातों पर सन्देह के साथ इतिहास के भक्त विचार करते थे जिनकी सत्यता का प्रमाण भू-गर्भ से खोद कर निकाले हुए मकानों, बाग़ों, नहरों, समाधियों और स्तूपों से उन्हें आज ग्रीष्म के प्रचण्ड मार्तण्ड के समान प्रकाशित और हस्तामलक हो रहा है। इसी प्रकार अनेक प्राचीन काल की, ग्रन्थकार के ही हाथ की, लिखो हुई पुस्तकें मिली हैं और ये भी मौलिक लिखित प्रमाण हैं। इन पुस्तकों को विद्वानों ने बड़ी मेहनत के साथ सम्पादन करके प्रकाशित किया है और वे शिलालेखों की तरह इन्हें ढूँढ़ ढूँढ़ कर नई प्राप्त पुस्तकों के रूप में प्रकाशित करते रहते हैं। अनेक पुस्तकों की कई हस्तलिपियाँ मिलती हैं। ये सब ग्रन्थकारों के हाथ की लिखी नहीं होतीं। इन प्रतिलिपियों में पाठान्तर भी होते हैं। प्रायः इनके प्रकाशक और सम्पादक अगर समझदार हुए तो पाठान्तरों को भी दे देते हैं। यहाँ हमारे कहने का अभिप्राय यही है कि ऐसे पाठान्तरों से

ऐतिहासिक प्रमाण को क्षति नहीं पहुँचती। यदि कहीं किसी सन्-संवत् में या किसी नाम में अन्तर हुआ तो उसका पता लगाना सहज हो जाता है। पिछले दिनों में नागरी-प्रचारिणी सभा काशी और हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के द्वारा भी बहुत सी पुस्तकों की खोज हुई है। इनमें से कुछ सावधानी के साथ सम्पादन करके प्रकाशित भी की गई हैं। इनमें पाठान्तर होने के कारण हिन्दी-साहित्य के इतिहास-लेखकों को कोई अड़चन नहीं पड़ सकती। साहित्यिक समालोचक इन पाठान्तरों पर चाहें तो तर्क-वितर्क कर सकते हैं। बिहारी-सतसई और तुलसीकृत रामायण के समान प्रचार का सौभाग्य हिन्दी की और किसी पुस्तक को अभी तक नहीं मिला है। इन दोनों पुस्तकों की हाथ की लिखी हुई प्रतिलिपियाँ भी अगणित होंगी। जो हस्तलिखित प्रतियाँ मिली हैं उनके देखने से पता लगता है कि पाठान्तर कम नहीं हैं, लेकिन विद्वानों ने इन पुस्तकों को प्रधान लेखक के अभीष्ट के अनुसार सम्पादन करने छपवाने में यथासाध्य कोई कसर नहीं छोड़ी। फिर भी अगर कहीं कोई थोड़ी भ्रमात्मक बात नज़र आवे तो उसे इतिहास की दृष्टि से कोई भारी क्षति नहीं कह सकते।

जहाँ हम छलियों के छल से छला जाना स्वीकार करना बुरा समझते हैं, नानी-दादी की कहानियों और धर्मपुस्तकों की कोरी गप्पों को जानबूझकर निगलने से बचे रहते हैं, झूठे

गवाहों के वागाडम्बर से हटते हैं, जालसाज़ों, धोखेवाज़ों से पल्ला बचाकर लचते हैं, वहाँ हम एक-दम भ्रम से वच भी नहीं सकते। यह क्षेत्र वहुत कठिन है। मनुष्य यदि एक-दम सन्देह का ही पुतला वन जाय तो इतिहास के बीज का ही नाश हो जाय। दिन दिन नये प्रमाण मिलते हैं और पुराने भ्रमों का संशोधन होता रहता है। पहले ब्लैक होल की घटना की ऐतिहासिकता का विश्वास किया जाता था, पर अब उसकी ऐतिहासिकता पर सन्देह किया जाता है। किसी एक अँगरेज़ विद्वान् ने इतिहास की पाठ-विधि के सम्बन्ध में लिखा है कि दूर क्यों जाइए, सन् १८७० की जर्मनी और फ़्रांस की लड़ाई का मूल-कारण आज तक अन्धकार में है, पहले जिन वातों को हम सत्य माने वैठे थे वे असत्य सिद्ध हो गई हैं। अब नये प्रमाणों की आशा की जा रही है। इस-लिए इतिहासकार को थोड़े-वहुत सन्देह को ज्यों का त्यों छोड़ देने का स्वभाव डालना ही पड़ता है। आगे आनेवाले इतिहासकार नये प्रमाणों के पाने पर इन शंकाओं और सन्देहों की निवृत्ति करेंगे।

जिनको हम प्रमाण मान सकते हैं उनके व्यवहार में हमें अपनी भूलों से सावधान रहना चाहिए। हमें जो ऐतिहासिक लिखत मिलते हैं उन्हें हम तभी समझ सकेंगे जव हम उनकी भाषा और लिपि का ज्ञान रखते होंगे। अपरिपक्व ज्ञान से काम लेंगे तो हम स्वयं भूल के कारण होंगे। यह वात भी

हमें मालूम होनी चाहिए कि भाषा में समय पाकर अन्तर पड़ता रहता है, लिखने और बोलने की भाषा में, बाज़ारू और शिष्ट भाषा में, ग्राम्य और नगर की भाषा में भी बहुत अन्तर होता है। बहुधा इतिहासकार को लिखने के समय जो शब्द याद आता है लिख देते हैं। सम्भव है कोई शब्द उपयुक्त न हो, घटना को तथावत् न व्यक्त करता हो। इसलिए देश-काल-पात्र का भी ध्यान हमें भाषा और लिपि के ज्ञान के साथ रखना ज़रूरी है, नहीं तो हम किसी लैखिक ऐतिहासिक प्रमाण को पढ़ने व समझने का दावा नहीं कर सकेंगे।

बहुधा वैदिक साहित्य में जो शब्द एक अर्थ-विशेष में आये हैं, वही सूत्र-काल के ग्रन्थों में, उनके बाद पुराणों में और दूसरे और भी नये ग्रंथों में दूसरे दूसरे अर्थों में प्रयुक्त पाये जाते हैं। जैन और बौद्ध ग्रन्थों की अनेक परिभाषायें केवल कोश के देख लेने या धातु-पाठ, गण-पाठ आदि साधनों के हस्तगत होने से ही नहीं समझी जा सकतीं जब तक उन्हीं के और ग्रन्थों को क्रम से हम न पढ़ें।

जब हमें कोई हाथ की लिखी पुस्तक मिले तब हमें देखना होगा कि यह मौलिक प्रति है या प्रतिलिपि है। अक्षरों के मोड़-तोड़ और रंग-ढंग से देश और काल का समीपवर्ती पता चतुर इतिहासकार लगा सकते हैं। आज जो नागराक्षर हममें प्रचलित हैं इनका अब तक बहुत स्वरूपान्तर हुआ है। फिर

शास्त्र . लिपियों का होना

निर्विवाद ... चुका है। यह ... देश की लिपि और

भाषा में होती है। अँगरेज़ी लिपि और भाषा में दो सौ वर्ष

के भीतर बहुत बड़ा अन्तर नज़र आता है। यही बात और

प्रचलित भाषाओं की लिपियों के सम्बन्ध में भी कहना ठीक

है। सावधान इतिहासकार को लिखित प्रमाणों पर भी बड़ी

चतुराई, सावधानी और जानकारी से ध्यान देना पड़ता है।

राजा या किसी ज़बर्दस्त आदमी के भय से लेखक कभी ऐसे

शब्दों और वाक्यों का भी प्रयोग करते हैं जिनसे दो अर्थ

निकलते हैं। दूसरा बचाव करनेवाला होता है, अत्याचारी

राजाओं के आगे प्रजा की ज़बान डर से बन्द रहती है।

बोलना या लिखना असम्भव हो जाने पर लेखक अनेक प्रकार

के गुप्त मार्गों का सहारा लेते हैं। इन बातों का भी विचार

इतिहासकार को रखना पड़ता है।

हमें इस बात का भी ख़याल होना चाहिए कि अगर विक्रम की पहली शताब्दी की लिखी पुस्तक की प्रतिलिपि सातवीं शताब्दी में होगी तो उसमें भूलों के होने की जितनी सम्भावना होगी उतनी उस पुस्तक में न होगी जो दूसरी शताब्दी की प्रतिलिपि होगी। जितने अधिक समय के बाद की प्रतिलिपि की हुई पुस्तक होगी, उतनी ही अधिक भूलों की सम्भावना ध्यान में रख कर उसकी सचाई की खोज इतिहासकार को करनी पड़ती है। पहले छापेख़ाने न थे, इसलिए पुस्तकें बहुत

धीरे-धीरे नक़ल होती होती अपने प्रेमियों के हाथों में पहुँचती थीं और नक़ल दर नक़ल होने से उनमें भूलों की सम्भावना भी उसी तारतम्य से बढ़ती जाती थी। लेकिन अगर ईमानदारी के साथ पुस्तक नक़ल की गई हो तो ऐसी भूलों से विशेष क्षति नहीं होती। हाँ अगर ऐसा मालूम हो कि नक़ल को असल बनाकर चलाने का प्रयत्न लेखक ने किया है तब उस पर अधिक सन्देह होना स्वाभाविक है। प्राचीन समय में लेखक अपने ग्रन्थों पर अपना नाम नहीं लिखते थे, न कवि अपनी कृतियों में अपना नाम देते थे। इसलिए ग्रन्थों के सम्बन्ध में कर्ताओं का नाम-निर्णय करना भी इतिहासकार का एक काम है। पुस्तकों के नक़ल करनेवाले कभी-कभी अपना नाम और तिथि देते हैं, लेकिन अधिकतर ये लोग भी अपना नाम और नक़ल करने का समय नहीं देते। ऐसी दशा में असली ग्रन्थकार का और ग्रन्थ की नक़ल करनेवाले का पता लगना बहुधा असम्भव हो जाता है। ग्रंथ ग्रन्थकार के हाथ का लिखा हुआ है अथवा मूल ग्रन्थ की प्रतीक है, कहना असाध्य होता है। बहुधा प्राचीन काल के प्रसिद्ध पुरुषों के नाम से लोग नये ग्रन्थ लिखकर संसार को धोखे में डालते हैं। पुराणों के कर्ता महर्षि व्यास बतलाये जाते हैं, लेकिन उनके पढ़ने से भाषा की शैली और और अनेक दूसरी बातों के आधार पर यह सिद्ध होता है कि उनके कर्ता जुदा जुदा कई लोग हैं। व्यासकृत महाभारत में बहुत बड़ा अंश दूसरे लोगों

का मिलाया हुआ है। इसी प्रकार ऐतिहासिक पुस्तकों में भी लोगों की अनुचित कार्रवाई हो सकती है।

इन तमाम बातों को सामने रखते हुए इतिहासकार को मुख्य मुख्य बातों का पता लगाने के लिये मूल ग्रंथकार का नाम, ग्राम, समय, उसकी योग्यता, सामाजिक परिस्थिति इत्यादि अनेक बातों का आधार ढूँढ़ना पड़ता है।

भाषा की शैली और भाव से बहुधा इतिहासकार ग्रंथकार और उसके समय का पता लगा लेते हैं, परन्तु काम बड़ी चतुराई, जानकारी और अगाध पाण्डित्य का है। आज तक विद्वानों में इस बात पर मतभेद है कि 'चरक-संहिता', महर्षि पतञ्जलिकृत है या नहीं, यद्यपि उनका योगदर्शन और महाभाष्य संसार के सामने है और सब मानते हैं कि ये दोनों ग्रंथ उनके ही रचे हुए हैं।

शिलालेख आदि को छोड़कर और बहुत लिखित प्रमाण राजदरबार-सम्बन्धी काग़ज़ों के मिलते हैं। उनमें भी कभी-कभी ऐसा देखा जाता है कि जिनकी गवाही बतलाई जाती है उनमें से किसी का लेख के प्रादुर्भाव के पहले मर जाना सिद्ध होता है अथवा उसके बाद जन्म लेना पाया जाता है। ऐसे लेखों पर विश्वास करने में बहुत शंका होती है, अतः और अधिक छान-बीन की ज़रूरत होती है। असली प्रति मिलने से फिर भी बहुत बातों का पता लगाने में सुगमता होती है।

यदि कहीं नकल हुई तो मामला बहुत कठिन हो जाता है। ऐसी परिस्थितियों में मुख्य बात पर पुनर्विचार और नई खोज करने की ज़रूरत होती है। जहाँ ऐसा सन्देह उत्पन्न हो और कोई सिद्धान्त स्थिर न हो सके, वहाँ इतिहासकार को चाहिए कि परिस्थिति को पाठकों के सामने, मूल में, टिप्पणी में, किंवा परिशिष्ट में जैसा उचित हो, रख दे और अपना निर्णय या सन्देह का कारण भी दिखला दे। दूसरे लोगों को उसी समय के जब दूसरे लेख प्राप्त होंगे तब वे विचार करेंगे कि वास्तविक बात क्या है। ऐसी बातें बहुधा तर्क-शास्त्र के साधारण नियमों और पढ़े-लिखे समझदार आदमी की साधारण बुद्धि और जानकारी से सहज में ही निश्चय हो सकती हैं। जब एक ऐतिहासिक बात पर एक आदमी किसी प्रस्तुत मसाले के आधार पर अपना एक मत प्रकट करता है, तभी एक दूसरा विद्वान् उसी मसाले के आधार पर अपनी सूझ से नये कारण बतलाते हुए उसी बात पर दूसरी राय दे सकता है या पहले सज्जन के मत को और भी पुष्ट कर सकता है। इसलिए ऐतिहासिक बात के निर्णय में जितने अधिक मत इतिहासकार को मिलें उतने ही अच्छे हैं। उनको पढ़कर अपना एक अचल मत स्थिर करने में उसे सुविधा होगी।

पुराने इतिहासकारों का तर्क हमें विचार पूर्वक देखना चाहिए। यदि उनके तर्कों के आधार पर हम मनोनियोग के साथ विचार करेंगे तो हमें सत्यासत्य के निर्णय करने में

सहायता मिलेगी। अगर हमें विचार करने के लिए नये आधार मिलें या पूर्व-लेखक के तर्कों के जाँचने का अवसर प्राप्त हो तो और भी अच्छी बात है। लेकिन इतिहासकार को विना पूरी तरह पूर्वापर के विचार के कोई मत देना उचित नहीं है।

बहुधा ऐसा होता है कि राज के दण्ड के भय से सामयिक इतिहासकार सच्ची बात नहीं लिख सकते। अनेक राजाओं और रानियों की भ्रष्टता और अत्याचार के हाल लोग इतिहास के रूप में नहीं लिख पाते। ऐसी अनेक घटनायें कविता या कहानी में, उपन्यास और नाटक में अन्योक्ति के रूप में लिखते हैं। बहुत दिन तक दन्तकथाओं में ऐसी घटनाओं का वर्णन होता रहता है। इसलिये इतिहासकार को अन्योक्तियों और दन्तकथाओं से बहुत बातों को अनुमान करना सुगम हो जाता है।

कोई प्रमाण या साक्ष्य क्यों न हो, उसकी साधारण रीति से तीन गतियाँ होती हैं। सत्य कहता हो या जानबूझकर असत्य बोलता हो अथवा सच बोलना चाहता हो, परन्तु भूल या भ्रम से उलटा चलता हो। अदालत में ये तीन भेद हो सकते हैं। परन्तु इतिहास में दूसरे और तीसरे भेद का एक ही फल होता है, इसलिए दोनों बातें एक मानी जाती हैं। प्रायः लोग मिथ्या नहीं लिखना चाहते, लेकिन पक्षपात, अन्धविश्वास, अविवेक से अथवा दूसरे के विश्वास पर बात को विना सोचे

समझे ही कुछ का कुछ लिख डालते हैं और अकारण किसी के सिर दोषारोप कर बैठते हैं। इस तरह विरोधियों को गाली देने-वालों, उनके विरुद्ध मिथ्या-प्रचार करनेवालों और झूठे दोषा-रोप करनेवालों का नितान्त अभाव न प्राचीन काल में मिलता है, न अर्वाचीन में।

नेपोलियन और पदच्युत कैसर के सम्बन्ध में और दोनों के युद्धों की अनेक घटनाओं के सम्बन्ध में कुछ लोगों ने जान-बूझकर संसार को धोखा देने के लिए उनके अच्छे गुणों पर धूल फेंकने के लिए इतना झूठ पुस्तकों में, संवाद-पत्रों में लिखा है कि उसको पढ़कर घृणा होती है। 'प्रोपेगैण्डा टिकनीक इन दि वर्ल्डवार' नाम की पुस्तक पढ़ने से हमें पता चलता है कि विरोधियों को हानि पहुँचाने के लिए लेखनी से क्या-क्या किया जा सकता है। यह सब लेखनी के निकले हुए मिथ्यावाद लैखिक प्रमाण हैं, जिनको इतिहासकारों को बड़ी सावधानी से काम में लाना चाहिए। प्राच्यों में ऐसो जातियाँ हैं जिनके इतिहासकारों ने गाली और मिथ्या आक्षेपों से अपने ग्रन्थों को कलङ्कित किया है। सरकारी कागज़ भी इसी प्रकार गन्दे किये जाते हैं और कुछ समय बाद वही कागज़ ऐतिहासिक प्रमाण का स्थान पाते हैं। इतिहासकारों को इन बातों का ध्यान रखकर विशेष जातियों और समयों के लेखों का विश्वास करना चाहिए।

जो बात एक आदमी के ही कहने पर सत्य मानकर लिखी जाती है, दूसरा साक्षी नहीं मिलता, उसकी तो बात ही अलग है, लेकिन ऐसा बहुत ही कम देखा जाता है । नेपोलियन का पारिवारिक जीवन उसके नौकर डी काँस्टाँ ने लिखा है। उसमें अनेक बातें ऐसी हैं जिनकी सत्यता प्रमाणित करने में हम सर्वथा असमर्थ हैं, उसी की बात को सत्य मानना पड़ता है। वह व्यक्ति बड़ा भद्र प्रतीत होता है और उसका विषय भी ऐसा नहीं जिसमें जातीय या राष्ट्रीय ईर्ष्या-द्वेष का अधिक पैर फैलता हो। परन्तु जहाँ किसी घटना के एक से अधिक गवाह मिलते हैं, वहाँ मतभेद हो सकता है। यह मतभेद चाहे मूल घटना के सत्य होने के सम्बन्ध में हो, चाहे उसके किसी अंश के। कभी-कभी मूल घटना को तो सब साक्षी एक समान सत्य बतलाते हैं, लेकिन उसके ब्योरे में एक कुछ कहता है और दूसरा कुछ। यदि घटना के होने न होने का मतभेद नहीं है तो इतिहासकार को आधार मिल जायगा और वह समझेगा कि ब्योरे की भूल के क्या कारण हो सकते हैं और उन कारणों से कैसी भूल हो सकती है, और सबकी जाँच करने के बाद वह ब्योरे के अन्दर पड़ेगा और उसकी जाँच करेगा।

वर्तमान क़ानून और शासन-पद्धति की बदौलत अदालतों में कभी कभी देखा जाता है कि कई गवाह घर से सीख कर आते हैं कि अदालत में क्या बयान देना है और सब मिलकर

एक ही बयान देते हैं जो नितान्त मिथ्या होता है। ऐतिहासिक प्रमाण में भी ऐसा अवसर भी कहीं आता है, यह बात कम जँचती है। फिर भी हो सकता है कि एक ही आदमी के ज़बान की सुनी हुई बातों के आधार पर कई लेखकों ने घटना का वर्णन किया हो, क्योंकि उस घटना को देखनेवाले एक ही दो हों और उन्हीं से बात का सर्वत्र प्रसार हुआ हो। ऐतिहासिक लेखक स्वयम् तो सारी घटना के देखनेवाले नहीं होते, शायद उसके किसी अंश को जानते हों अथवा उनको निज की जानकारी कुछ भी न हो। इस तरह एक ही विवरण जो कई लेखकों तक पहुँचे और सब उसे अपने अपने लेखों में स्थान दें तो वही दशा हो सकती है जो ऊपर झूठे गवाहों के उदाहरण में दिखाई गई है। उदाहरण के लिए गोसाईंजी की निज की लिखी रामायण के विरुद्ध जो पाठ एक रामायण में मिलता है वही और कई पुस्तकों में मिलता है। इसका मतलब यही है कि ये सब एक ही पुस्तक की नक़लें हैं। जब दो साक्षियों में नितान्त मतभेद होता है तब उसकी नियमानुसार छानबीन होती है। छानबीन में किसी लेख का विश्वास करने न करने का कारण देखा जाता है और गौण प्रमाणों की सहायता ली जाती है। खोज करनेवाले को जहाँ तक विश्वास का जो आधार मिलता है वहाँ तक वह उसे काम में लाता है। जहाँ एक से अधिक विवरण मिलने पर अगर असली बात ठीक है और ब्योरे में अन्तर

है तो इसमें साक्षियों की नेकनीयती में तो संदेह नहीं रह जाता। देखना यह होता है कि शुद्धता किसके विवरण में है। यों तो एक से अधिक साक्षियों के होने में कुछ न कुछ अन्तर हो ही जाता है जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है।

यह लेख सरस्वती भाग २२ संख्या ५ में छपा था।

सत्ये नास्ति भयं क्वचित्